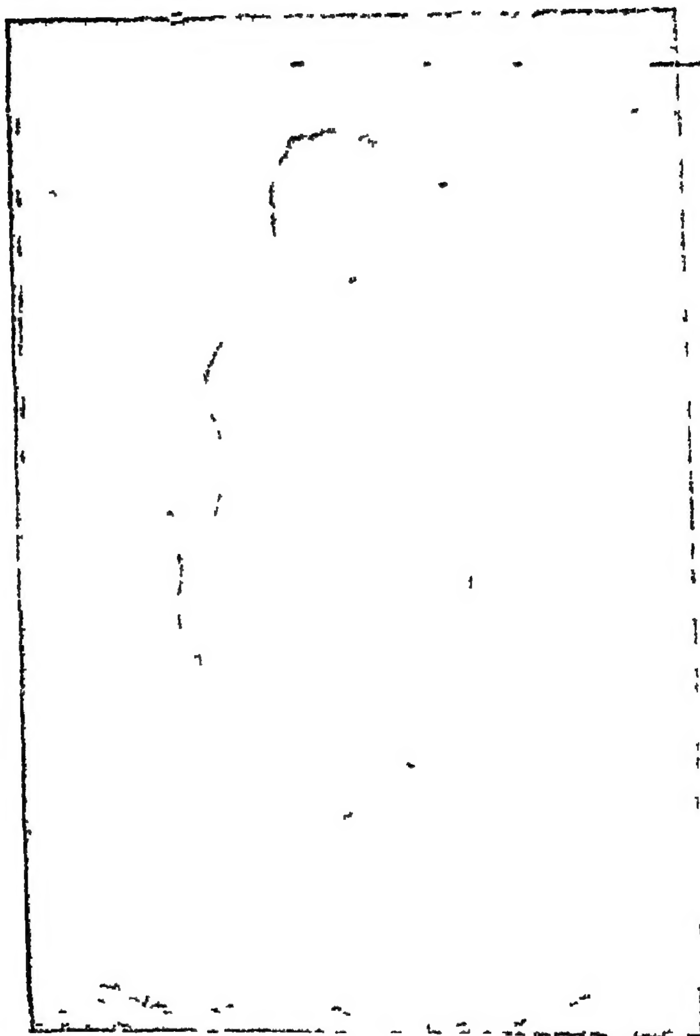


गुरुभक्तपरायणा

श्रीमती फुलकोरबेन, मुंबई.

आद्य-वक्तव्य

किमत्र चित्रं यत्सतः परानुग्रहतत्पराः ।
न हि स्वदेहशैत्याय जायते चन्दनद्रुमाः ॥ सुभा० ॥

महापुरुषोंका जीवन केवल दूसरोंके उपकारके लिए ही हुआ करता है, क्यों कि चंदन वृक्षोंका जन्म अपने देहके शैत्यके लिए नहीं अपितु प्राणियोंके सुखके लिए वे पैदा होते हैं ।

जिन महर्षियोंका रात्रिंदिन यह भावना रहती है कि इस संसार परिभ्रमणमें पडकर दुःख उठानेवाले प्राणियोंकी भलाई किस प्रकार हो, उनका उद्धार किस प्रकार हो, मैं आत्मराज्यको कैसे प्राप्त करूं, लोकमें शांति सुखकी स्थापना किस प्रकार हो, प्राणियोंका अज्ञान किस प्रकार दूर हो, समस्त साधर्मी सज्जन प्रेम व वात्सल्यसे किस प्रकार रहें, वे महर्षि धन्य हैं । जिनका अनुदिनका अनुष्ठान केवल परानुग्रहके लिए ही हुआ करता है, जिनके जपमें, तपमें, ध्यानमें व उपदेशमें किसी भी प्रकारका स्वार्थ नहीं, दूसरोंके अपकार करनेपर भी अपनी क्षांतिसे उपकार ही करते रहते हैं, इतना ही नहीं, जिनके हृदयमें स्वप्नमें भी दूसरोंको अपकार करनेकी भावना नहीं होती है, वे साधु संत धन्य हैं ।

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय, विश्ववंद्य, विद्वच्छिरोमणि आचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज आजके युगमें धर्मके अलौकिक उद्योत करनेवाले परमशांत वीतरागी विद्वान् तपस्वी हैं । आचार्यसंघका विहार जहां जहां हो रहा है वहां २ चिरस्मरणीय धर्मप्रभावना हो रही है । जैनधर्मके आदर्श व महत्वको जैनेतर साधारण बहुत उच्चदृष्टिसे देख रहे हैं । कई वर्षोंसे आचार्यश्रीका विहार गुजरात प्रांतमें हो रहा है । वहां अनेक राजधानीके शासक आपके पूज्य चरणोंके परमभक्त

बन गये हैं । सुदासना, टींबा, भलुवा, माणिकपुरा, मोहनपुरा, वडासन, पेथापुर, ओरान, देलवाडा, विजयनगर आदि छोटे बडे संस्थाओंके अधिपति आपके परम भक्त हैं । ऐतिहासिककालीन जैनधर्म व जैनसाधुओंका स्मरण एकदम आचार्यश्रीके दर्शनसे होता है । अनेक संस्थानाधिपति आपके चरणोंके दर्शनके लिए लालायित रहते हैं । पिछले दिन वडोदा राज्यके न्यायमंदिरमें बडोदाके दीवान सा. सर कृष्णमाचारीकी उपस्थितिमें पूज्यश्रीका परमप्रभावक भाषण हुआ, जिसे सुननेके लिए कई हजार जैनेतर श्रोता उपस्थित थे । यह इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंमें लिखने लायक हुआ है । बहुतसे राजाओंने आपके उपदेशसे प्रेरित होकर अपने राज्यमें अहिंसा दिन पालनेकी प्रतिज्ञा की है । गुजरातमें बडे बडे राजा महाराजाओंके द्वारा आपका स्वागत हुआ और हो रहा है । आपके उपदेशामृत पान करनेके लिए बडे २ राजा महाराजा लालायित रहते हैं । आपके द्वारा अभूतपूर्व धर्मप्रभावना हो रही है । आपकी विद्वत्ता, वक्तृत्व, गंभीरता आदि बातें अन्यदुर्लभ हैं । आपने वक्तृत्वकालमें जिस प्रकार कुशलता प्राप्त की है, उसी प्रकार काव्यनिर्माणकार्यमें भी अधिकार जमा लिया है । आपने अभीतक अपनी प्रगाढ विद्वत्तासे बोधामृतसार, ज्ञानामृतसार, चतुर्विंशतीजिनस्तुति, शांतिसागरचरित्र, निजात्मशुद्धिभावना, मोक्षमार्गप्रदीप, श्रावकप्रतिक्रमण, नरेशधर्मदर्पण, स्वरूपदर्शनसूर्य आदि करीब ३३ ग्रंथोंकी रचना कर भव्योंके लिये अनंत उपकार किया है । यह श्रावकप्रतिक्रमणसार भी आपकी परम निर्मल विद्वत्तासे निर्मित अमृत है । इस ग्रंथमें सचमुचमें जैसा नाम वैसा ही आत्मविशुद्धिका साधन कूटकूटकर भरा हुआ है । जिन्हें

आत्मगौरवको पाकर अमर बनना हो वे इस अमृतका अवश्य पान करें। श्रावकोंको अपने प्रतिनित्यके आरंभ जनित कार्यमें प्रमादवश अनेक प्रकारसे पापास्रव होते हैं। मुनिगण अपने प्रत्येक कार्यमें सावधान रहते हैं। प्रमाद नहीं करते। इसलिए उनको कर्मोंका आस्रव अत्यंत मंदरूपसे होता है, तथापि वे उन कर्मोंको दूर करनेके लिए आलोचना व प्रतिक्रमण कर आत्मविशुद्धि करते हैं, गृहस्थोंको तो पद पद पर अपराध करनेका अवसर आता है, तन्निमित्तसे श्रावक क्रोधी होते हैं, मानी होते हैं, मायाचार करते हैं, लोभकर अनेक पाप कमाते हैं। इसके अलावा अनेक द्वारसे कर्मसंचय किया जाता है।

यदि उन कर्मोंका विशोधन नहीं किया जाय तो कर्मपर्वत ही एकत्रित हो जाय एवं यह आत्मा दीर्घसंसारी बन जाय। इसलिए आवश्यक है कि अपने किये हुए पापोंका पश्चात्ताप करें एवं उन अर्जित कर्मोंको हलका बनायें, श्रावकोंको अपने आत्मविशोधन करनेके लिए यह ग्रंथ अत्यंत उपयुक्त बनाया है। अपने आत्मकल्याण करनेकी इच्छा रखनेवाले भव्योंको इसका पठन व मनन सदा करना चाहिये।

मुंबईके प्रसिद्ध धर्मात्मा सेठ बालुभाईने गुरुभक्तिसे प्रेरित होकर इसे अपनी भगिनी श्रीमती फुलकोरबेनसे प्रकाशित कराया है, अतः वे दोनों धन्यवादके पात्र हैं। इस ग्रंथसे असंख्यात भव्योंके परिणाममें विशुद्धि होगी। और उनका आत्मकल्याण होगा।

....*...

श्रीमती धर्मनिष्ठ फुलकोर बेनका संक्षिप्त परिचय.

इस शास्त्रको जब कि परमपूज्य आचार्य कुंथुसागरजी महाराज वीर संवत् २४६६ में रचना करनेके लिए प्रारंभ कर ही रहे थे, उस अर्सेमें श्रीमती फुलकोर बेन अपने भाई श्रीमान् सेठ वालुभाई नेमचंदके साथ पावागढ सिद्धक्षेत्रकी वंदनाके लिए व आचार्यश्रीके दर्शनके लिए गई थी। उस समय अपने भाई वालुभाईकी संमतिसे इसे प्रकाशित करनेकी भावना दर्शाई थी जिससे अनेक जैन-जैनेतर भावुक लाभ लेकर अपना आत्मकल्याण करें।

श्रीमती फुलकोर बेनका जन्म मुंबईमें दि. जैन नृसिंहपुरा जातीमें प्रसिद्ध श्री. सेठ सोभागचंद मेघराजके कुटुंबमें संवत् १९४७ को आषाढ सुदी १५ के रोज हुआ। उनकी माता श्री. महतबेन फुलकोरबेनको ४ महीनेके वयमें छोडकर परलोक यात्रा कर गई, परंतु पिताश्री सेठ नेमचंदजी सोभागचदजीने अत्यन्त प्रेमके साथ पुत्रीका लालन पालन किया एवं धार्मिक शिक्षण देकर उनका जीवन सुसस्कृत किया। करीब १४ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने अपनी कन्याका विवाह फेरवाडा (ता. आमोद) शा. नाथालाल मुलजी भाईके पुत्र चुनीलालके साथ किया परन्तु दुःख है कि कर्मके योगसे संवत् १९८८ के वर्षमें शेठ चुनीलालजीका स्वर्गवास हुआ। तदनंतर संसारकी स्थितिको अनुभव करते हुए श्री फुलकोर बेनका चित्त धर्मकी ओर और भी अधिक सुदृढ होगया। अब उनका अधिकतर समय धार्मिक क्रियावोंका पालन, स्वाध्याय, जपस्तोत्र देवपूजादिमें व्यतीत होता है। उन्होंने प्रायः सभी तीर्थोंकी वदना कई बार की है, अनेक धार्मिक सस्थावोंको दान भी देती रहती हैं। वर्तमानमे उनका जीवन हमारी बहिनोंको अनुकरणीय है।

विषयानुक्रमणिका

श्री वीतरागाय नमः ।

श्रीमदाचार्य श्रीकुंथुसागरजी विरचित-

श्री श्रावकप्रतिक्रमणसार ।

मूल ।

॥ मङ्गलाचरण ॥

चतुर्विंशति तीर्थेशान् नत्वा सकलसद्गुरून् ।
सत्प्रतिक्रमणं वक्ष्ये गृहिणां भावशुद्धये ॥ १ ॥

भीमे भवाब्धौ भ्रमता त्वया हि, कालो ह्यनंतश्च वृथा व्यतीतः
प्रगाढमिथ्यात्ववशात्तथेह, बोधिर्न लब्धा भवभीतिहर्त्री ॥ २ ॥

चिन्तासमाक्रान्तेन त्वया हतेन, नाराधितः सौख्यमयः स्वधर्मः ।
नतो ह्यसह्यं मनसाप्यचिन्त्यं, दुःखं च भुक्तं सहसादिजातम् ॥ ३ ॥

लोके ह्यसारे भ्रमता त्वयेति, जन्मादि-मृत्युः कतिवारमेव ।
कृतश्च नेषां गदितुं समर्थो, शक्रोऽपि शक्तो न सहस्रजिह्वः ॥ ४ ॥

सामान्य जन्तोश्च कथास्ति कात्र, ज्ञात्वेति मोहं प्रविहाय मायाम् ।
कुर्वन्तु शुद्धिं स्वपरात्मनां भो, यथा पुनः स्यान्न च जन्ममृत्युः ॥

एकस्मिन् दुःखदे श्वासेऽष्टादशवारमेव भो ।
जन्ममृत्युं त्वया नित्यं कुर्वता समयो बहु ॥ ६ ॥

नलिकभद्रतुल्येन व्यतीतः क्लेशदे भवे ।
त्यक्त्वा ज्ञात्वेति तद्धेतुं मृत्युर्न स्यात्तथा कुरु ॥ ७ ॥

द्वित्रीन्द्रियादिपर्याये, कर्मपरवशात्सदा ।
अन्योन्यभक्ष्यभ्रमणस्त्वं, मृतः पादादिमर्दनात् ॥ ८ ॥
स्वयं दुःखी दरिद्री सन्, कष्टे स्वायुर्व्यनीतवान् ।
ततस्त्यक्त्वेति तद्धेतुं, वस त्वं स्वपदेऽमले ॥ ९ ॥
पंचाक्षपर्यायचये प्रमूढो, दीनो दरिद्री विकलांगधारी ।
क्रोधी प्रमादी व्यसनी विकारी, सन्नेव पापाऽखिलदुःखपात्रः॥
व्यतीतवांस्त्वं समयं ह्यनंतं, तथापि लब्धो न निजस्वभावः।
ज्ञात्वेति तस्यागविधिर्विधेयः, स्यान्नाक्षपर्यायमतिर्यतस्ते ॥११॥
मिथः सदा वैरविरोधयोगाद्धन्ता स्वयं सन् भुवि हन्यमानः
तद्दुःखभीतः समयेऽसमर्थस्ततो रुदन्नेव च यत्र तत्र ॥१२॥
व्यतीतवान् हन्त वृथा निजायुर्ज्ञात्वेति तत्त्वादिकृतेर्निरूपम् ।
त्यक्त्वा मिथो वैरविरोधभाव, सर्वैश्च सार्धं कुरु मैत्र्यभावम्॥१३॥
पिता प्रियश्चैव सखापि बंधुर्मातापि मान्या भगिनी सुशीला।
भार्या मनोज्ञा स्वजनोऽपि शत्रुर्दासी च दासः सचिवोऽपि सैन्यः
गजाश्वहर्म्यं मणिरत्नराज्यं, न याति सार्धं किमपि त्वयाऽन्यत्।
ज्ञात्वेति तेषां प्रविहाय चिन्तां, कुरु स्वशुद्धिं हि भवेत्स्वसिद्धिः॥
धर्मं विना मृत्युमुखात् त्रिलोके, इन्द्रोऽपि चन्द्रो ह्यगदः खगेंद्रः
मन्त्रोऽपि मंत्री न च यन्त्रतंत्रं, राजापि राज्यं वरदा च यक्षी॥१६॥
शक्तो न च स्यादविता फणीन्द्रो, ज्ञात्वेति मृत्योर्यततां जयार्थम्।
न स्याद्यतस्ते मरणस्य चिन्ता, हे वत्स ! चैव मम सम्मतोऽस्ति॥
नृजन्म लब्ध्वा स्वविवेकदात्रा, सुदुर्लभं श्रेष्ठगुरुं कृपाब्धिम् ।
कदापि चित्ते कुरु मा प्रमादं, क्षमस्व लोकस्थितसर्वजीवान्॥१८॥
तथामृतं यच्छ विषप्रदात्रे, दुःखप्रदात्रे स्वसुखं सदैव ।

यतो भवेत्ते निजराज्यलक्ष्मीर्हीमीव भवत्याऽखिलकार्यकर्त्री ॥
अज्ञानतः पक्षविमूढतो हि, यत्त्वेत्यतत्त्वे वरतत्त्वमेव ।
घोरं न पापं कृतवान किमात्मन, निजप्रशंसां परजीवनिंदाम्॥
तत्पापशान्त्यै न ततो विरुद्धं, कुरु प्रमोद प्रविहाय निंद्यम् ।
कृतापराधस्य यतो विनाश , पुनस्तवलाभ सुखदो भवेत्ते ।२१।
जिह्वामलोभान्मधुमद्यमांसं, घृणास्पद धर्मविनाशकं हि ।
निंद्य मदा कं व्यसनं व्यथादं, कुसंगतः सेवितवान बाभक्ष्यम्॥
आत्मघ्नमन्तं व्यसनस्वरूपं, जिह्वामलोभाद्धि भवां स्वहानिम् ।
ज्ञात्वेति मुक्त्वा कुरु चात्मशुद्धिं, यतस्त्वात्मा भवेत्पवित्र।२३।
गुरुप्रकटाहनिदङ्कर्म कं, व्रत गृहीत्वा सुखदं पवित्र ।
प्रमादयोगाद्यदि भञ्जितं चेत्, दोषीकृत मोहवशात् त्वया वा॥२४॥
तच्छुद्धिमेव विधिना हि कृत्वा, पुनर्व्रतं पालय तद्विमुक्त ।
यतो भवेत्ते कृतकृत्यजन्म, दृढं, मनोऽपि व्रतशक्तिधर्मे ॥ २५॥
भ्रांतिप्रदं कष्टकरं निगोदं, श्वभ्रं व्यथादं कुगुरोः प्रसंगात् ।
निर्गतो निःश्वरं कुयोनौ, प्रतिक्षणं प्राणहरं भवाब्धौ ॥२६॥
हा मन्यसे त्वं भ्रमितो विनाऽसि.ज्ञात्वेति मुक्त्वा कुगुरोः प्रसंगं
कुरु प्रसंग सुगुरोः कृपाद्येयेत स्वराज्य हि तदाश्रय स्यात् ॥
चतुर्गतौ दुःखमये भवेऽत्राऽज्ञानेन नित्य भ्रमता त्वया ये ।
विनिन्दिता स्त्रीधनवर्जिताश्च, कृतास्तथा प्राणिविवर्जिताश्च२८
विराधिता स्वार्थवशाद्धि जीवाः, क्षमां न याचस्व ततश्च तेभ्यः
यतस्तवात्मेति भवेद्विशुद्धः, स्थिरमदा स्वात्मरसे हि तृप्तः ।२९।
पंचप्रकारादत्र कृतापराधाः, विराधिताः स्थावरजीवकायाः ।
स्वार्थाभिलाषेण प्रतिनिर्दयेन, दुःखीकृताः कौ बहवो हताश्च ॥

त्वयैत्यभाग्येन निरंकुशेन, ततश्च तद्दोषविनाशनार्थम् ।
कुर्वात्मनिंदां हि परप्रशंसां, विद्यालयस्थापनवर्द्धनादिम् ॥३१॥
अगालितेनैव जलेन नित्यं, सूक्ष्मादिजन्तोश्च कलेवरेण ।
स्नानं सदा त्वं कृतवान् विगाह्य, हतात्मबुद्धिः खलु निर्दयो वा
तस्माच्च जीवा बहवो मृताश्च छिन्ना बभूवुर्विपुलाश्च भिन्नाः ॥
तेभ्यः क्षमां प्रार्थय पापशान्त्यै, स्वर्मोक्षदं त्वं कुरु दानधर्मं॥३२॥
शाखासमूहैः सुफलादिपुष्पैर्विभूषिताः क्व तरवः सजीवाः ।
अन्ये मया स्थूलतराश्च सूक्ष्माः पृथ्व्यादिकायाश्च विराधिता वै ।
अज्ञानतः स्वार्थवशाद्धि हा हा, त्वया ह्यभाग्येन निजात्महन्त्रा ।
मिथ्या यतः स्याद्धि कृतापराधास्तेभ्यः क्षमां प्रार्थय शुद्धबुद्ध्या
व्रतोपवासः सुखदं तपो न, कृत तथाकारितमेव नान्यैः ।
स्वर्मोक्षदं संयमशीलरत्नं, न रक्षितं प्रेरितमेव नान्यम् ॥३६॥
त्वया प्रमोहात् विविधं हि किन्तु, कृतं व्यथादं विषमं कुकर्म ।
तच्छान्तिहेतो' कुरु चित्तशुद्धिं, यतो भवेत्ते सफलं नृजन्म॥३७॥
कन्दादिमूलं च निगोदपिण्डं, ह्यन्नं सचित्तं भवदं प्रभुक्तम् ।
सूक्ष्मः मिथो वै हरितांकुरादिस्त्वया मनोज्ञश्च विराधितो वा ॥
तद्दोषसंख्यां गदितुं न शक्तः, शक्र' परेषां हि कथैव काऽस्ति ।
तथापि ते स्यात् कृतकर्मनाशो, भक्त्या सुधर्मं भुवि चेत्करोषि ॥
कुटुम्बमोहादिवशात् त्वया क्व, तथान्यकार्यादिवशाद्धि हा हा ।
शिवप्रदो नार्चनदानधर्मः, कृती कृतो वांच्छितदो न भक्त्या ॥
ततस्तवात्मा खलु निंदनीयो, बभूव दीनश्च पदे पदे हि ।
ज्ञात्वेति दानादिविधिर्विधेयो, यतः प्रपूज्योऽपि भवेत्सुखीह ॥
त्वया प्रमूढेन सुनिर्दयेन ह्यारम्भकार्याण्यसुनाशकानि ।

संसारमूला निकषायदानि, सावद्ययुक्तानि सदा कृतानि॥४२॥
सावद्यकार्यं भवदं च मुक्त्वा, कुरु क्षमादं निरवद्यकार्यम् ।
यतस्तवात्मा प्रभवेत्कृतार्थी, प्रशंसनीयो हि नरामरेन्द्रैः ॥४३॥
अतीतकाले त्वरवर्तमाने, ह्यनागते वा विफलो व्ययादः ।
प्रमत्तयोगाद्विषमस्त्वया हा, दोष कृत. कारित एव निंद्य ॥४४॥
कृतस्य दोषस्य ततो विनाशो भवेत् त्रिकालेऽपि तथा न दोषः।
तादृग् विधानं सुखदं कुरु त्वं, स्यात्ते त्रिलोकोपि सदा स्वदासः॥
जगत्प्रपोऽर्चार्हन एव हा हा, सिद्धस्य शुद्धस्य शिवप्रदस्य ।
स्वर्मोक्षदस्येति जिनागमस्य, सावद्यहर्तुर्जिनमंदिरस्य ॥ ४६ ॥
कुसंगतोऽज्ञानत एव निंदा, ह्यनादरादिश्च त्वया दुरात्मन् ।
कृतः प्रदोष' कुटिलस्ततस्त्वं, तत्पादसेवां कुरु तत्प्रशान्त्यै॥४७॥
जिनेन्द्रधर्मप्रतिमादिकानां, सम्पूर्णजन्तो. परितारकाणां ।
श्रीवर्द्धिनां तद्वचसां कदाचिदमान्यता वाऽविनयः कृतश्चेत्॥४८॥
त्वया ह्यभाग्येन महापराधस्तत्पापशान्त्यै हि पुनः पुनश्च ।
कुर्वात्मनिंदां प्रतिमादिपूजां, यतस्तवात्मा प्रभवेत्प्रपूज्यः ॥४९॥
मिथ्यात्वहर्तुः सुमतिश्रुतादिज्ञानस्य चानंदपदप्रदस्य ।
हठाच्छठत्वात्कुमतिश्रुतादिवशात्कृतो वाऽविनयः प्रणिन्दा॥५०॥
तद्दोषहान्यै कुमतिश्रुतादिज्ञानं हि मुक्त्वा भवद भवाब्धौ ।
गृहाण भक्त्या सुमतिश्रुतादिज्ञान यत स्यात्सफलं नृजन्म॥५१॥
मदाष्टमदेन त्वया खलेन, दीना दरिद्राः कुलहीनजीवा ।
प्रपीडिता क्वा ह्यपमानिताश्च, तेषां हठाद्वापहृत धनादि ॥५२॥
तत्पापशान्त्यै विनयेन कार्यं, दत्वा धन तन्मनसश्च तोषम् ।
यतो मिथः स्यात्स्वमन' पवित्र, स्याद्वाऽचिर वै कुलहानिशांति॥

महाव्रती स्वात्मरतो दयालुः, स्वात्मानुरागी च भवाद्विरागी।
त्रिरत्नधारी च महातपस्वी, क्षमाकरोऽकारणबंधुरेव ॥ ५४ ॥
एतादृशः साधुरपीह चास्ति, तस्य प्रमादाद्भवरोगहर्तुः।
यदि प्राणिन्दाऽविनयः कृतश्चेत्, तत्पापशान्त्यै नमताद्विशुद्ध्या॥
देशव्रती शीलशिखामणिश्च, धर्मानुरागी ह्यसुरक्षकश्च।
पूजासुदानव्रतमौनधारी, सन्तोषकारी स्वपरोपकारी ॥ ५६ ॥
पूर्वोक्तधर्मेण युताः सुश्राद्धाः, सन्त्यत्र तेषां हि कृता कदाचित्।
निंदा कुरु त्वं विनयादिसेवां, यतस्तवात्मेति सुखी कृती स्यात्॥
चतुर्भवे दुःखमये विचित्रे, विपत्प्रकीर्णे भ्रमता त्वयैव।
देवा प्रलोभान्मनुजाश्च मानाद्, भयंकरान्नारकिनः प्रकोपात्॥
हा मायया वा पशवो ह्यदोषाः, विदारिता प्राणहृताश्च दग्धाः।
तत्पापशांत्यै कुरु तान् स्वकीयान्, नश्येत् प्रकोपोऽपि यतश्च तेषाम्॥
संसारसंतापविवर्द्धकानां, भूत्वा वश क्रोधचतुष्टयानां।
हेयं प्रणिन्द्यं कृतवान् कुकर्म, तथान्यलोके विषय व्यथादम् ॥
तत्पापशान्त्यै च कषायकांडं, त्यक्त्वा तथा मोहपिशाचसंगम्।
स्वानंदसिन्धौ सुरमस्व चात्मन्, यतः प्रिया स्यात्तव मोक्षलक्ष्मी।
निर्दोषजन्तोरपि दुष्टबुध्या, त्वयात्महंत्राऽखिलपापकर्त्रा।
वस्त्रान्नवस्तूनि यशोधनानि गजाश्च हर्म्याणि विभूषणानि॥
मुनिर्दयाद्वापहृतानि यस्मात्, तत्पापशान्त्यै वसनादि दत्वा।
कुरुष्व तेषां हृदि चात्मशांतिं, यतस्तवात्मा प्रभवेद्वरिष्ठः ॥६३॥
पञ्चसूनक्रियाया वा कृष्यादिवृत्तियोगतः ।
संरंभादिकषायाद्वा कायकृतादिभेदतः ॥ ६४ ॥
अष्टोत्तरशतं पापं प्रतिनित्यं प्रजायते ।

तत्त्वापक्षालनार्थं हि भक्त्या देवार्चनादिकम् ॥ ६५ ॥
अष्टोत्तरशतं जाप्यं सत्प्रतिक्रमणादिकम् ।
निजात्मचिंतनं नित्यं क्रियते धर्मद्योतनम् ॥ ६६ ॥
सरागमूर्तेः कुगुरोः कुनीतेः, स्तुतिः प्रशंसा गुरुदेवबुद्ध्या ।
त्वया प्रलोभाद्धि नतिः कृता चेत्, तवात्मशुद्ध्यै कुरु तद्वियोगम्।
जिनोक्तशास्त्रस्य गुरोः कृपाब्धेः, संयोगमेवं कुरु चित्तशुद्ध्या ।
अन्वेषणीयं च यथार्थवस्तु, मोक्षो भवेत् प्राप्य नृजन्म येन ॥
बन्धुश्च मे कोऽस्त्यहमेव तस्य,कौ कोऽस्मि धर्मोऽपि मम प्रदेशः ।
कीदृग्हि कृत्यं करणीयमास्ति, तथा परेषां हितचिन्तनं वा ॥६९॥
एवं विचारः सुखदश्च कार्यः, प्रातस्त्वयोत्थाय च चित्तशुद्ध्या ।
यतः स्वयं त्वं हि भवेः पवित्रः, आबालवृद्धस्य सुखप्रचारी ॥
रौद्रार्तभाव भवबन्धमूलं, मिथ्याविषं प्राणहरं विमुच्य ।
ध्यानं च धर्मस्य समाधिमूलं, सेवां मुनीनां कुरु मोक्षदां वा ॥
सामायिकं शांतिकरं सदैव, समस्तसंतापविनाशकं यत् ।
स्यात्तु स्वधर्मे हि तथा यतस्व, यतस्तवात्मा प्रभवेज्जिनेन्द्रः ॥
स्वात्मा सदैको म्रियतेऽसहायः, कौ जायते कर्मवशात्सदैकः ।
करोति पापं विषमं सदैको, भुंक्ते तदेकः समयं च लब्ध्वा ॥
मोक्षं प्रयाति रत्नत्रयमेव चैको, मोक्षे सदा तिष्ठति चापि चैकः ।
आत्मा तथा नात्मनि तिष्ठतीत्थं, तावद्विचारः सुखदश्च कार्यः॥
दृग्बोधचारित्रसुखस्वरूपी, स्वात्मा सदा तेऽस्ति यथार्थदृष्ट्या ।
तथाप्यबोधादिति तद्विरुद्धं, मत्वा त्वयाऽदं कृतवान् कुकर्म।७५ ॥
ज्ञात्वेति तत्कर्म विनाशनार्थं, दृग्बोधचारित्रसुखस्वरूपः ।
स्वात्मेति मत्वा कुरु चित्तशुद्धिं, स्याच्चे स्वसिद्धिर्निजराज्यदात्री ॥

स्पर्शादिवर्णात्मकपुद्गलेन, मुक्तस्तवात्माखिलभोगसंगात् ।
दुःखप्रदाद्बन्धुकलत्रसंगाद्दूरोऽस्ति मिथ्यात्वकषायकाण्डात् ॥
स्वानंदसाम्राज्यपदे नियुक्तः, तुष्टस्तवात्मा स्वचतुष्टयेन ।
मिष्टे निजानन्दरसेऽस्ति पुष्टो, निजेऽपि विष्टो भुवने गरिष्ठः॥७८॥
एव विचारः सुखदः सदैव, हे वत्स! कार्यो हि त्वया प्रशान्त्यै।
आचार्यवर्येण सुखाश्रितेन, श्रीकुन्थुनाम्नेति सदा प्रणीतम्॥७९॥
दीक्षागुरोर्मे सुखशान्तिसिंधोरज्ञानहर्तुश्च सुधर्मसिंधोः ।
विद्यागुरोरेव कृपाप्रसादात्, ग्रन्थो मयाऽयं रचितः पवित्रः॥८०॥
स्वर्मोक्षदं वांछितदं ततो ये, ग्रन्थं ह्यमुं शुद्धिकरं जनानाम् ।
पठंति भक्त्यैव नमंति नित्य, स्वर्गापवर्गं भुवि ते लभन्ते॥८१॥
ख्यात्यादिहेतो रचितो मयाय, ग्रन्थो न किंतु स्वपरार्थशान्त्यै।
आबालवृद्धादिहितार्थमेव, सन्तापहर्त्रा वरसूरिणेति ॥ ८२ ॥
ग्रन्थ ह्यमुं वांच्छितदं हि भक्त्या, पठंति ये केऽपि सदैव तेभ्यः।
स्वर्मोक्षलक्ष्मीं वृषभादिवीरा , शांतिं क्रियासुर्वरसूरयोऽपि॥८३॥
श्रीकुन्थुनाम्न सुखशान्तिमूर्तेर्ग्रन्थः सदाय वितनोतु सौख्यम् ।
दुःख प्रजान हरतु क्षणान्मेऽभिप्राय एव किल ग्रन्थकर्तुः॥८४॥



श्रीवीतरागाय नमः

श्रीपट्टाचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर विरचित

श्रीश्रावक-प्रतिक्रमण-सार.

धर्मरत्न पं. लालाराम शास्त्रीकृत

भाषाटीका सहित

मंगलाचरण

चतुर्विंशतितीर्थेशान् नत्वा सकलसद्गुरून् ।
सत्प्रतिक्रमणं वक्ष्ये गृहिणां भावशुद्धये ॥

अर्थ-इस ग्रंथके प्रारंभमें मैं सबसे पहले भगवान् वृषभदेवसे लेकर श्रीमहावीरपर्यंत चौवीसों तीर्थंकरोंको नमस्कार करता हूं । इस प्रकार अपने विघ्नोंकी शांतिके लिए पंचपरमेष्ठी भगवानको नमस्कार करनेरूप मंगलाचरण करके गृहस्थोंके भाव शुद्ध रखनेके लिए गृहस्थोंके श्रेष्ठ प्रतिक्रमण का निरूपण करता हूं ।

भावार्थ—मंगलाचरण करनेका प्रयोजन विघ्नोंको शांत करना है । विघ्नोंका होना पापकर्मके उदयसे होता है तथा मंगलका अर्थ ही पापोंका नाश करनेवाला है । मं शब्दका अर्थ पाप है और गल शब्दका अर्थ गलानेवाला वा नाश करनेवाला है । जो पापोंको नाश करे उसीको मंगल कहते हैं । भगवान पंचपरमेष्ठी सर्वपूज्य सर्वोत्तम हैं इसलिए इस

संसारमें वे ही मंगलरूप हैं। इसलिए आचार्यने सबसे पहले पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है।

आगे इस संसारी जीवको समझाते हुए इसका स्वरूप दिखलाते हैं—

भीमे भवाब्धौ भ्रमता त्वया हि
कालो ह्यनन्तश्च वृथा व्यतीतः।
प्रगाढमिथ्यात्ववशात्तथेह ।
बोधिर्न लब्धा भवभीतिहर्त्री ॥ २ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अनादिकालसे अत्यंत भयंकर इस संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण कर रहा है और इस प्रकार परिभ्रमण करते करते अनतकाल व्यर्थ ही व्यतीत हो गया है। इस अनतकालमें भी तेरे तीव्र मिथ्यात्वकर्मका उदय रहा है और इसी लिए तुझे आज तक इस संसारके जन्ममरणरूप भयको हरण करनेवाला रत्नत्रय आज तक प्राप्त नहीं हुआ है।

भावार्थ—मोक्षका साक्षात् कारण रत्नत्रय है। वह रत्नत्रय शुद्धात्मस्वरूप है तथा उस शुद्धात्मस्वरूपको रोकनेवाला मिथ्यात्व कर्म है। इसीलिए इस संसारमें मिथ्यात्वके समान अन्य कोई भी पाप नहीं बतलाया है। यही मिथ्यात्व रूप महापाप आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रगट नहीं होने देता। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू मोक्ष महलके अनंत सुख प्राप्त करना चाहता है तो मिथ्यात्वका त्याग कर और रत्नत्रयको धारण कर।

आगे संसारके दुःखोंका कारण बतलाते हैं।

> चित्ताक्षसौख्येन त्वया हतेन
> नाराधितः सौख्यमयः स्वधर्मः।
> ततो ह्यसह्यं मनसाप्यचिन्त्यं
> दुःखं च भुक्तं सहसादिजातम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे आत्मन ! तू आजतक इन्द्रिय और मनके सुखोंमें ही लगा आ रहा है तथा इन काल्पनिक और झूठे सुखोंमें लगे रहनेके कारण ही तूने आजतक अनन्तसुख देनेवाले आत्माके स्वभावरूप धर्मका आराधन नहीं किया है। हे आत्मन ! इसीलिए जिनको हम लोग कभी मनमें भी चिंतवन नहीं कर सकते ऐसे अकस्मात् होनेवाले वा अन्य अनेक प्रकारके असह्य दुःख तुझे भोगने पड़े हैं।

भावार्थ—यह आत्मा रात-दिन इन्द्रियोंको तृप्त करनेमें लगा रहता है। इसके लिए यह आत्मा अनेक प्रकारके हिंसादिक पाप उत्पन्न करता रहता है तथा उन पापोंके करनेमें यहांतक तल्लीन हो जाता है कि फिर आत्माके स्वभावरूप धर्मको सर्वथा भूल जाता है। इस प्रकार यह आत्मा पापोंको तो उत्पन्न करता रहता है परन्तु पापोंको नाश करनेवाले धर्मको कभी धारण नहीं करता। इसीलिए यह आत्मा उन पापोंका उदय होनेपर अनेक प्रकारके असह्य दुःख भोगता रहता है। वास्तवमें देखा जाय तो इन्द्रियोंका सुख सुख नहीं है। कल्पनामें उस झूठे सुखको सुख मान

लेता है। देखो किसी पुरुषको अधिक मिरचे वा अधिक खटाई खानेमें आनन्द होता है परन्तु अन्य कितने ही मनुष्योंको मिरच वा खटाईसे अत्यन्त अरुचि होती है यदि खटाई वा मिरचके खानेमें सुख होता है तो सबको होना चाहिये परन्तु सबको नहीं होता। जो पुरुष खटाई वा मिरचके खानेमे सुखकी कल्पना कर लेता है वही पुरुष उसमे सुख मान लेता है। इससे साबित होता है कि वह सुख काल्पनिक है और इसीलिए मिथ्या है। वास्तविक सुख तो आत्मजन्य सुख है जो कभी नष्ट नहीं होता। अतएव हे आत्मन्! तू इन्द्रियोंके मिथ्यासुखोंका त्याग कर जिससे कि ससारके समस्त दुःख छूट जांय और मोक्षके अनन्त सुखकी प्राप्ति हो जाय।

आगे जन्म-मरणकी संख्या बतलाते हैं—

लोके ह्यसारे वसता त्वयेति
जन्मारिमृत्युः कतिपारमेव।
कृतश्च तेषां गदितुं सुसंख्यां
शक्रोपि शक्तो न सहस्रजिह्वः॥ ४॥
सामान्यजन्तोश्च कथास्ति कात्र
ज्ञात्वेति मोहं प्रविहाय मायाम्।
कुर्वन्तु शुद्धिं स्वपरात्मनां कौ
यतः पुनः स्यान्न च जन्ममृत्युः॥ ५॥

अर्थ—हे आत्मन ! इस असार संसारमें निवास करते तूने कितनी वार जन्म-मरण किया है। यदि उनकी संख्या गिननेके लिए हजार जिह्वाओंको धारण करनेवाले इन्द्रसे भी कहा जाय तो वह भी उनकी संख्या नहीं कर सकता फिर भला साधारण मनुष्यकी तो कथा ही क्या है ? यही समझ कर हे आत्मन ! तू मोह और मायाका सर्वथा त्याग कर तथा अपने आत्माको सर्वथा शुद्ध कर । इस प्रकार अपने आत्माको शुद्ध कर लेनेपर संसारके अन्य जीवोंको शुद्ध कर। ऐसा करनेसे फिर तुझे जन्म-मरणके दुःख कभी नहीं भोगने पड़ेंगे।

भावार्थ—हे आत्मन्! तूने अनन्तानन्त काल तो नित्य निगोदमें व्यतीत किया, जिसमें एक-एक श्वासमें अठारह-अठारह वार जन्म-मरण धारण किया। यदि इन जन्म-मरणोंकी गिनती की जाय तो अनन्तानन्त ही होती है। यदि किसी पुण्य कर्मके उदयसे वहांसे निकला तो पृथ्वीकायिक जलकायिक वायुकायिक अग्निकायिक वनस्पतिकायिक आदि स्थावर कायमें परिभ्रमण करता रहा। यदि किसी विशेष पुण्य कर्मके उदयसे त्रसकायमें जन्म लिया तो दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय आदि विकलत्रयमें परिभ्रमण करता रहा। यदि पांचों इन्द्रियां प्राप्त हुई तो असैनी होकर परिभ्रमण करता रहा। यदि मन भी प्राप्त हुआ तो उस मनसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न कर नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति इन चारों

गतियोंमें परिभ्रमण करता रहा। हे आत्मन्! इन सब प्रकारके परिभ्रमण करनेमें जो जन्म-मरण धारण करने पड़े हैं उनकी संख्या इन्द्रादिकदेव भी नहीं कह सकते फिर भला सामान्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है? इसलिए हे आत्मन्! यदि तू इन अनन्तानन्त जन्म-मरणोंसे छूटना चाहता है तो सबसे पहले मोह और मायाका त्याग कर। क्यों कि इस मोह और मायाचारीसे ही इस संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है। मोह और मायाचारीके छूटनेपर यह तेरा आत्मा शुद्ध हो जायगा और आत्माके शुद्ध हो जानेसे फिर जन्म मरण कभी प्राप्त नहीं होगा। जन्म मरणका प्राप्त न होना ही अनन्तसुख है और इसीको मोक्ष कहते हैं।

आगे इसी बातको उदाहरण देकर बतलाते हैं—

एकस्मिन् दुःखदे श्वासेऽष्टादशवारमेव कौ।
जन्म मृत्युं त्वया नित्यं कुर्वता समयो बहुः॥६॥
तैलिकभद्रतुल्येन व्यतीतः क्लेशदे भवे।
त्यक्त्वा ज्ञात्वेति तद्धेतुं मृत्युर्न स्यात्तथा कुरु॥७॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने इस संसारमें महादुःख देनेवाले एक-एक श्वासमें अठारह अठारह बार जन्म मरण किया है और इस प्रकार जन्म मरण करते हुए तूने अनंतानंत काल व्यतीत किया है। तैलिकभद्रके समान तेरा भी अनंतकाल महादुःखोंमें ही व्यतीत हुआ है। यही समझकर हे आत्मन्! इन जन्म मरणके कारणभूत मोह मिथ्यात्व और इंद्रियोंके

सुखोंका त्याग कर जिससे कि फिर कभी भी जन्म मरणका महादुःख न भोगना पड़े।

भावार्थ—जिसप्रकार तेलीका बैल आंखोंमें पट्टी बांधकर घानीके चारों ओर घूमा करता है उसी प्रकार यह संसारी जीव भी मिथ्यात्व और मोहकी पट्टी बांधकर इस संसारमें घूमा करता है। तेलीका बैल कोल्हू वा घानीके चारों ओर घूमता है और यह जीव चारों गतियोंमें घूमता है। अथवा जिस प्रकार तेलीका बैल घानीके चारों ओर घूमता हुआ ही अपनी आयु पूरी कर देता है, उसी प्रकार यह निगोदिया जीव भी एक-एक श्वासमें अठारह-अठारह बार जन्म मरण करता हुआ अनंतकाल व्यतीत कर देता है। आंखोंपर पट्टी बांधनेसे जिस प्रकार उस तेलीके बैलको कुछ दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार तीव्र मिथ्यात्वके कारण इस जीवको भी अपने आत्माका हित दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार इस जीवकी गति ठीक तेलीके बैलके समान हो रही है। अन्तर केवल इतना ही है कि बैल तो इस प्रकार दस बीस वर्ष ही घूमता है परंतु यह जीव अनतानंतकाल तक बराबर घूमता रहता है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू इस प्रकार तेलीका बैल नहीं बनना चाहता अथवा जन्म मरणसे छूटना वा बचना चाहता है तो मोह और मिथ्यात्वका त्याग कर। मोह और मिथ्यात्वका त्याग कर देनेसे ही यह जीव सदाके लिए जन्म-मरणसे छूट जाता है।

आगे त्रस पर्यायके परिभ्रमणको कहते हैं।

द्वित्रीन्द्रियादिपर्याये कर्मपरवशात्सदा ।
अन्योन्यभक्ष्यमाणस्त्वं मृतःपादादिमर्दनात्॥८॥
स्वयं दुःखी दरिद्री सन् कष्टैस्त्वायुर्व्यतीतवान् ।
ततस्त्यक्त्वेति तद्धेतुं वस त्वं स्वपदेऽमले ॥ ९ ॥

अर्थ—इसीप्रकार हे आत्मन्! तू कर्मके पराधीन होकर दो इंद्रिय पर्यायमें उत्पन्न हुआ वहांपर तूने अनेक जीवोंको भक्षण किया अथवा अनेक जीवोंके द्वारा अनेक वार भक्षण किया गया तथा कभी किसीके पैरके नीचे दवकर मर गया । फिर कितने ही कालके बाद चींटी चींटा आदि तेइंद्रिय पर्यायमें उत्पन्न हुआ । वहांपर भी अनेक जीवोंको भक्षण करता रहा अथवा अनेक जीवोंके द्वारा भक्षण किया गया तथा कभी किसीके पैरके नीचे दवकर अथवा अन्य किसी तरहसे मर गया । तदनंतर कितने ही कालके बाद भौंरा, मक्खी आदि चौइंद्रिय पर्यायमें उत्पन्न हुआ, वहां भी अनेक जीवोंको भक्षण करता रहा । अथवा अनेक जीवोंके द्वारा भक्षण किया गया अथवा अन्य किसी तरहसे मारा गया । इन सव पर्यायोंमें जवतक जीवित रहा तवतक महादुःखी और सदा दरिद्री ही वना रहा तथा वडे दुःखोंसे अपनी आयु व्यतीत करता रहा । इसलिए हे आत्मन् ! यदि तू इन सव दुःखोंसे वचना चाहता है तो इन पर्यायोंमें जन्म देनेवाले कारणोंका त्याग कर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें निवास कर ।

भावार्थ—द्विइंद्रिय, तेइंद्रिय, चौइंद्रिय इन जीवोंको विकलत्रय कहते हैं। विकलत्रयकी अनेक योनियां हैं। इन सबमें यह जीव बहुत कालतक परिभ्रमण करता है तथा अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करता रहता है। कभी अनेक जीवोंका घात करता है, कभी अनेक जीवोंको खा जाता है और कभी अनेक जीवोंके द्वारा खाया जाता है वा मारा जाता है। कभी कभी पानीमें बहकर मर जाता है, कभी अग्निमें जलकर मर जाता है, कभी बड़े पशुओंके पैरके तले दबकर मर जाता है, कभी मिट्टीके ढेरमें दबकर मर जाता है और कभी ईंट पत्थरकी चोटसे मर जाता है। कहांतक कहा जाय, इन पर्यायोंमें यह जीव कभी सुखी नहीं रहता सदाकाल जन्म-मरण के दुःख ही भोगा करता है। इसके सिवाय अपने जीवनमें भी सदाकाल भयभीत रहता है, सदाकाल दुःखी-दरिद्री बना रहता है। आत्मज्ञानके न होनेसे कभी भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। यह आत्मज्ञान मनुष्य पर्यायमें प्राप्त हो सकता है। इसलिए हे आत्मन्! अब तू मनुष्य-जन्म पाकर अपने आत्माकी शुद्ध पर्यायमें तल्लीन हो जिससे कि इन पर्यायोंके समस्त दुःख छूट जांय और मोक्षका अनन्तसुख प्राप्त हो जाय।

आगे पंचेन्द्रिय जीवोंके दुःख बतलाते हैं—

पंचाक्षपर्यायचये प्रमूढो
दीनो दरिद्री विकलांगधारी।

क्रोधी प्रमादी व्यसनी विकारी
सन्नेव पाप्माऽखिलदुःखपात्रः ॥ १० ॥
व्यतीतवांस्त्वं समय ह्यनन्तं
तथापि लब्धो न निजस्वभावः ।
ज्ञात्वेति तत्त्यागविधिर्विधेयः
स्यान्नाक्षपर्यायमतिर्यतस्ते ॥ ११ ॥

अर्थ—जब किसी विशेष पुण्यकर्मका उदय होता है तब इस जीवको विकलत्रयकी पर्याय छूट कर पंचेन्द्रियकी पर्याय प्राप्त होती है। पचेन्द्रिय पर्यायको पाकर भी यह जीव अत्यन्त मूर्ख होता है, दीन होता है, दरिद्री होता है, अग उपांगोंसे रहित होता है, अत्यत क्रोधी होता है, प्रमादी वा आलसी होता है, अनेक व्यसनोंको सेवन करनेवाला होता है, मोह, मद, माया, काम आदि अनेक विकारोंको धारण करनेवाला होता है, महापापी होता है और समस्त दुखोंको भोगनेवाला होता है। इस प्रकार हे आत्मन् ! तूने अनन्तकाल व्यतीत किया, तथापि तुझे अपना निज स्वभाव प्राप्त नहीं हुआ। इन सब बातोंको समझ कर हे आत्मन ! तू इस प्रकार त्याग कर जिससे कि तेरी बुद्धि इन्द्रिय पर्यायरूप न हो।

भावार्थ—यह जीव जिस पर्यायमें जाता है उसी पर्यायको अपना स्वरूप मान लेता है। मनुष्य पर्यायको पाकर भी कभी-कभी तो यह अज्ञानी जीव यह भी नहीं समझता कि मैं मनुष्य हूं। मुझे मनुष्योचित कार्य ही करने

चाहिए। इन सब बातोंको न जानकर वह अपनी समस्त पर्यायमें पशुओंके समान ही अन्याय और अभक्ष्य–भक्षण करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है। यदि शुभ कर्मके उदयसे अच्छे निमित्त मिल जाते हैं और वह पढ लिख कर अपने मनुष्य जीवनको समझने लगता है तो विना आत्मज्ञानके केवल ऐहिक कार्योंमें ही फंसा रहता है। आत्मज्ञानके विना इसकी बुद्धि विपरीतरूप परिणत हो जाती है तथा विपरीत बुद्धि हो जानेके कारण यह जीव अपने स्वार्थमें अंधा हो जाता है। केवल इन्द्रियोंके सुखके वशीभूत हो जाता है, उन इन्द्रियोंके सुखोंकी प्राप्तिके लिए अनेक प्रकारके अन्याय करता है, निर्बल प्राणियोंका नाश करता है, उनका धन लूट लेता है, उनका देश लूट लेता है और उनको और अधिक निर्बल बनाकर उनका नाश कर देता है। यदि कारणवश उस विपरीत बुद्धिमें तीव्रता वा चंचलता प्राप्त हो जाती है तो फिर वह उसका प्रयोग जीवोंके संहार कार्योंमें ही करता रहता है। उसके लिए अनेक प्रकारके यंत्र–तंत्र बनाता है। इस प्रकार आत्मज्ञानके विना यह जीव अपना समस्त जीवन पापकार्योंमें ही व्यतीत करता रहता है और उन पापोंके फलसे नरक निगोदके दुःख भोगता रहता है। इन सब दुःखोंका कारण अपने आत्माके स्वरूपका ज्ञान न होना तथा पर्यायमें ही आत्माका स्वरूप मान लेना है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू इन दुःखोंसे बचकर आत्मजन्य अनंतसुखोंमें लीन होना चाहता है तो

पर्याय-बुद्धिका त्याग कर तथा अपने आत्माके स्वरूपको समझ। आत्माका स्वरूप समझ लेनेसे आत्माके क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कर्मजन्य विकार सब छूट जाते हैं तथा इन विकारोंके छूट जानेसे फिर यह आत्मा पापोंमें कभी लिप्त नहीं होता। इस प्रकार पापोंसे छूटकर यह आत्मा अपने आत्माका स्वरूप चिंतवन कर शुद्धात्मस्वरूप परमात्मा बन जाता है और समस्त कर्मोंको नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

आगे फिर भी इस मनुष्यका कर्तव्य बतलाते हैं—

मिथः सदा वैरविरोधयोगा-
द्धन्ता स्वयं सन् भुवि हन्यमानः।
दुःखं च सोढुं समयेऽसमर्थ-
स्ततो रुदन्नेव च यत्र तत्र ॥ १२ ॥
व्यतीतवान् हन्त वृथा निजायु-
र्ज्ञात्वेति तत्त्वाद्धिकृतेर्विरूपम्।
त्यक्त्वा मिथो वैरविरोधभावं
सर्वैश्च सार्द्धं कुरु मैत्रिभावम् ॥ १३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख, इस संसारमें परस्पर एक दूसरेके साथ वैर विरोध रखनेसे कभी तो यह स्वयं दूसरे जीवोंको मार देता है तथा कभी दूसरोंके द्वारा स्वयं मारा जाता है। इस वैर विरोधके कारण जो दुःख भोगना पडता है अथवा वैर विरोध या मारपीटके कारण बंधे हुए

कर्मोंके उदयसे जो दुःख भोगना पडता है उसमें असमर्थ होकर यह जीव इधर उधर रोता हुआ बड़े कष्टसे अपनी आयु व्यतीत करता है। हे आत्मन ! इस प्रकार वैर विरोध-रूप विकारके अशुभरूपका यथार्थस्वरूप समझ लेना चाहिये और फिर परस्परके वैर विरोधका सर्वथा त्याग कर सब जीवोंके साथ मित्रता धारण करना चाहिये।

भावार्थ—वैर वा विरोध दो प्रकारका होता है। एक जन्मसे होनेवाला वैर विरोध और दूसरा निमित्त कारणोंसे होनेवाला वैर विरोध। बिल्ली कुत्ताका वा बिल्ली चूहोंका जो वैर है वह जन्मसे ही होनेवाला वैर है। यह जन्मसे होने-वाला वैर विरोध पहले जन्मोंके संस्कारसे ही होता है। जब कभी दो मनुष्य वा पशु किसी बातपर लडते-लडते मर जाते हैं तब वे दोनों ही भिन्न भिन्न ऐसी योनियोंमें उत्पन्न होते हैं जिनमें कि परस्पर जन्मसे ही वैर विरोध होता है। जो वैर विरोध एक बार बंध जाता है उसका संस्कार अनेक जन्मोंतक विद्यमान रहता है। देखो ! कमठने स्वयं अन्याय किया था, अपने भाईकी स्त्रीके साथ दुर्व्यवहार किया था तथा प्रगट होनेपर राजाने उसको देश निकालेका दंड दिया था। यद्यपि उसके भाईके हृदयमें बदला लेनेकी कोई इच्छा नहीं थी और न उसने बदला लेनेका प्रयत्न ही किया था। वह तो उल्टा उससे क्षमा प्रार्थना करने गया था, परंतु कम-ठके हृदयमें भाईके प्रति दुर्भावना भर रही थी वह समझता था कि इसने ही राजासे कहकर मुझे दंडित कराया है। इस

लिए वह सदा अपना बदला लेनेकी धुनमें रहता था। इसी धुनमें उसने अपने प्राण छोडे थे और उस वैरके संस्कारके कारण कई जन्मतक अपने भाईके जीवको मारता रहा था। इससे सिद्ध होता है कि इस वैर विरोधका संस्कार अनेक जन्मोंतक बना रहता है। उस संस्कारके कारण इस जीवके परिणाम सदा मलिन और पापरूप ही बने रहते हैं। इस प्रकार पापोंकी परम्परा बनी रहनेके कारण यह जीव अनन्त काल नरकादिकके महादुःख भोगता रहता है। हे आत्मन्! यदि तू इन महादुःखोंसे बचना चाहता है तो किसीके साथ भी वैर विरोध मत कर, सबके साथ मित्रता धारण कर "मुझसे किसी जीवको भी किसी प्रकारका दुःख न पहुंचे" इस प्रकारके परिणामोंको मित्रता कहते हैं। यह मित्रताका भाव सर्वोत्कृष्ट भाव कहलाता है। इस मित्रताके भावको धारण करनेवाला कोई भी जीव किसी प्रकारकी हिंसा नहीं कर सकता, न किसीके साथ झूठ बोल सकता है, न किसीकी चोरी कर सकता है, न परस्त्री–सेवन वा वेश्या–सेवन कर सकता है और न अधिक परिग्रहकी तृष्णा धारण कर सकता है। इस प्रकार एक मित्रताके धारण करनेसे यह जीव समस्त पापोंसे बच जाता है। अतएव सब प्रकारके वैर-विरोधका त्याग कर समस्त जीवोंके साथ मित्रता धारण करना प्रत्येक श्रावकका कर्त्तव्य है।

आगे परिग्रहकी तृष्णाको हटानेका उपदेश देते हैं—

पिता प्रियश्चैष सखापि बन्धु-
मातापि मान्या भगिनी सुशीला।

भार्या मनोज्ञा स्वजनोऽपि शत्रु-
र्दासी च दासः सचिवोऽपि सैन्यः ॥१४॥
गजाश्वहर्म्यं मणिरत्नराज्यं
न याति सार्द्धं किमपि त्वया हि ।
ज्ञात्वेति तेषां प्रविहाय चिन्तां
कुरु स्वशुद्धिं हि भवेत्स्वसिद्धिः ॥ १५ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख, तेरा पिता तुझपर बहुत प्रेम करता है, यह तेरा भाई तुझपर प्रेम करता है, तेरी यह माननीय माता तेरा सबसे अधिक उपकार करती है, तेरी यह सुशीला बहिन सदाकाल तेरा भला चाहती रहती है, तेरी यह सुन्दरी स्त्री सदाकाल तुझपर न्योछावर हुआ करती है, यह तेरे परिवारके लोग सदा तेरा उपकार करते रहते हैं, यह तेरा शत्रु, यह तेरा दास यह दासी, यह तेरी बड़ी विशाल सेना, ये तेरे मंत्री, ये तेरे हाथी, घोड़े, महल, मणियां, रत्न, राज्य आदि जितनी विभूति हैं वे सब तेरी शोभा बढा रही हैं परन्तु जब तेरी आयु पूर्ण हो जाती है और जब तू परलोकके लिए गमन करने लगता है तब इनमेंसे कोई भी पदार्थ तेरे साथ नहीं जाता। लाख प्रयत्न करनेपर भी कोई भी तेरे साथ नहीं जा सकता। यही सब समझकर हे आत्मन्! तू इस सब प्रकारके परिग्रहकी चिंताका त्याग कर दे तथा परिग्रहके चिंताका त्याग कर

अपने आत्माको शुद्ध कर जिससे कि तेरे आत्माकी शुद्धि प्राप्त हो और मोक्षकी प्राप्ति हो।

भावार्थ—इस संसारमें गृहस्थावस्था एक प्रकारका जेलखाना है। जिस प्रकार जेलखाना चारों ओरसे घिरा रहता है उसी प्रकार चारों ओरसे घिरा हुआ घर ही जेल-खाना है, सुन्दर स्त्री पांवमें पडी हुई बेडियोंके समान हैं। जिसप्रकार बेडी पड जानेसे कैदी भाग नहीं सकता उसी प्रकार स्त्रीके रहते हुए प्रत्येक गृहस्थ घरको नहीं छोड सकता। जिसप्रकार कोई-कोई शूरवीर मनुष्य उन बेडियोंको तोडकर भाग जाता है उसी प्रकार विरला शूर-वीर पुरुष ही स्त्रीका मोह छोडकर जिनदीक्षा धारण कर लेता है। जिस प्रकार जेलखानेमें पहरेदार लोग पहरा लगाया करते हैं जिससे कि कोई कैदी भाग न सके, उसी प्रकार गृहस्था-वस्थामें भी कुटुम्बके लोग सब पहरेदार हैं। जिस प्रकार पहरेदार समय पूरा होनेपर बदल जाते हैं उसी प्रकार सम-यानुसार पहरा देनेके लिए पिताके स्थानपर पुत्र-पौत्र आ जाते हैं। इस प्रकार गृहस्थावस्था महा दुःखका कारण है तथापि जिस प्रकार पुराना कैदी उसी जेलखानेमें आनंद मानता है उसी प्रकार ये संसारी जीव अनादि-कालसे इसी जेलखानेमें पडे रहनेके कारण इसीमें आनन्द मान रहे हैं। जब वे पुराने कैदी अपना स्वरूप समझते हैं और उन्हें अपने घरकी याद आती है तब वे कैदी वहांसे भागनेका प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार जब यह आत्मा

अपने आत्माका स्वरूप समझ लेता है और जब इसे अपने मोक्षमहलकी याद आती है तभी यह जीव इस संसारसे निकलनेका प्रयत्न करता है। जिस प्रकार किसी कैदीको जब दूसरे जेलखानेमें ले जाते हैं तब न तो जेलखाना साथ जाता है और न पहरेदार ही साथ जाते हैं। उसी प्रकार जब यह जीव दूसरी पर्यायमें जाता है तब न तो घर, देश, रत्न आदि विभूति साथ जाती हैं और न कुटुम्बके लोग साथ जाते हैं। यही सब समझकर हे आत्मन्! जिस प्रकार कैदी उस जेलखानेकी वा पहरेदारोंकी चिंता नहीं करता उसी प्रकार तू भी कुटुंब वा विभूतिकी चिंता मत कर। सबकी चिंता छोडकर अपने आत्माका स्वरूप चिंतवन कर। यही अपनी आत्माकी विभूतिका तथा अनंत सुखका साधन है। इसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आगे मृत्युको जीतनेके लिए कहते हैं—

धर्मं विना मृत्युमुखात्त्रिलोक
इन्द्रोपि चन्द्रो ह्यगदः खगेन्द्रः।
मन्त्रोपि मन्त्री न च यन्त्रतन्त्रं,
राजापि राज्यं वरदा च यक्षी ॥ १६ ॥

शक्तो न च स्यादवितुं फणीन्द्रो
ज्ञात्वेति मृत्योर्यततां जयार्थम्!
न स्याद्यतस्ते मरणस्य चिन्ता
हे,वत्स चैवं मम.सम्मतोस्ति ॥ १७ ॥

अर्थ—जब यह जीव मरने लगता है तब इसको मृत्युके मुखसे न तो इंद्र बचा सकता है न चन्द्रमा बचा सकता है,न महावैद्य बचा सकता है, न कोई विद्याधर बचा सकता है, न मंत्र बचा सकता है, न मंत्रको जाननेवाला बचा सकता है, न यंत्र तंत्र बचा सकते हैं, न राजा बचा सकता है, न राज्य बचा सकता है, न वर देनेवाली यक्षिणी बचा सकती है और न नागेंद्र बचा सकता है। धर्मके सिवाय तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो मृत्युके मुखसे इस जीवको बचा सके। एक धर्म ही ऐसा पदार्थ है जो इस जीवको मृत्युके मुखसे बचा सकता है। यही समझकर हे वत्स! हे प्रिय शिष्य! इस मृत्युको जीतनेका प्रयत्न कर जिससे तुझे फिर मरनेकी चिंता न रहे। हे पुत्र! यही मेरा उपदेश है।

भावार्थ—आयुकर्मके उदय होनेको जन्म कहते हैं और उस आयुकर्मके पूर्ण होनेको मरण कहते हैं। इस शरीरकी स्थिति आयुकर्मके आधीन है। जब तक आयुकर्म रहता है तब तक ही यह शरीर बना रहता है, आयुकर्मके पूर्ण होनेपर यह शरीर नष्ट हो जाता है। जिस समयमें आयुकर्मका बंध होता है उसी समयमें उस आयुकर्मकी स्थिति भी बंध जाती है। वह स्थिति कभी भी किसी अवस्थामें भी बढ नहीं सकती। हां, निमित्त मिलनेसे घट सकती है वा घट जाती है। इससे यह बात सहज रीतिसे समझमें आ जाती है कि जब इस जीवका आयुकर्म पूर्ण हो जाता है अर्थात् यह जीव जब मरने लगता है तब इस जीवको कोई नहीं बचा सकता

कोई भी इन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती, अरहंत, सिद्ध वा अन्य कोई परमेष्ठी इस जीवको मरनेसे नहीं बचा सकता। औरोंकी तो बात ही क्या, ये इंद्र, देवेंद्र, चक्रवर्ती आदि भी अपनी आयु भी नहीं बढा सकते। यदि इन तीनों लोकोंमें इस जीवको मरनेसे बचा सकता है तो एक धर्म ही बचा सकता है। धर्म सेवन करनेसे वा रत्नत्रयका पालन करनेसे अथवा तपश्चरण वा ध्यान करनेसे यह जीव समस्त कर्मोंको नष्ट कर सिद्ध वा परमात्मा बन सकता है। इस प्रकार समस्त कर्मोंके साथ साथ आयुकर्म भी नष्ट हो जाता है और उसके सर्वथा नष्ट होनेसे फिर कभी भी उसका बंध नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि कर्मोंकी स्थिति कषायोंके निमित्तसे होती है तथा तपश्चरण वा ध्यान करनेसे कषायोंका सर्वथा नाश हो जाता है। अथवा यों कहना चाहिए कि कषायोंका नाश होना ही धर्म है। कषायोंके अभावको ही वीतराग अवस्था होनेपर फिर किसी भी कर्मकी स्थिति नहीं बंध सकती। इसप्रकार धर्मके धारण करनेसे अनुक्रमसे सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है और सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेपर फिर कभी भी जन्म-मरण नहीं हो सकता। इसलिए मृत्युको जीतनेके लिए धर्म धारण करना ही इस जीवका एक मात्र कर्त्तव्य है।

आगे श्रेष्ठ गुरुको पाकर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए ऐसा दिखलाते हैं—

नृजन्म लब्ध्वा स्वविवेकदं वा,
सुदुर्लभं श्रेष्ठगुरुं कृपाब्धिम् ।
कदापि चित्ते,कुरु मा प्रमादं,
क्षमस्व लोकास्थितसर्वजीवान् ॥ १८ ॥
तथामृते यच्छ विषप्रदात्रे,
दुःखप्रदात्रे स्वसुखं सदैव ।
यतो भवेत्ते निजराज्यलक्ष्मी-
र्दासीव भक्त्याऽखिलकार्यकर्त्री ॥ १९ ॥

अर्थ—इस संसारमें मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है । यदि किसी विशेष पुण्यकर्मके उदयसे उस मनुष्य जन्मकी प्राप्ति हो जाय और फिर उसी मनुष्य जन्ममें अपने आत्मज्ञानको देनेवाले, अत्यन्त दुर्लभ और कृपाके सागर ऐसे श्रेष्ठ निर्ग्रंथ गुरुकी प्राप्ति हो जाय तो फिर इस मनुष्यको अपने हृदयमें कभी प्रमाद नही करना चाहिए । तीनों लोकोंमें जितने जीव हैं उन सबको क्षमा कर देना चाहिए । जो तेरे लिए विष देता हो उसे अमृत देना चाहिए और जो तुझे दुःख देता हो उसे सदा आत्मजन्य सुख देते रहना चाहिए । यदि तू ऐसे ही कार्य करता रहेगा तो समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाली स्वराज्यरूप मोक्षलक्ष्मी दासीके समान भक्ति-पूर्वक तेरे समीप आजायगी ।

भावार्थ—इस संसारमें यह जीव अनेक पर्यायोंमें परिभ्र-

मण करता रहता है। परन्तु उन सब पर्यायोंमें मनुष्य पर्याय ही एक ऐसी है जिसमें यह जीव अपना कल्याण कर सकता है। शेष किसी पर्यायमें यह जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता। देखो! निगोदमें तो एक अक्षरका अनन्तवां भाग मात्र ज्ञान रहता है उससे वह कुछ कर नहीं सकता। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक जीवोंमें भी ज्ञानकी मात्रा बहुत ही कम रहती है, इसलिए वहां भी यह जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता। द्वीन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पर्यायमें भी ज्ञानकी मात्रा बहुत कम है, इसलिए वहां भी यह जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता। असैनी पंचेन्द्रियमें मन न होनेसे यह जीव अपने कल्याणका विचार भी नहीं कर सकता। सैनी पंचेन्द्रियोंमें पशु पक्षी कुछ कर ही नहीं सकते, नारकी कुछ कर नहीं सकते, देव लोक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं परन्तु चारित्र धारण नहीं कर सकते। इस प्रकार विचार करनेसे सिद्ध होता है कि सिवाय मनुष्यके और कोई भी अपना कल्याण नहीं कर सकता तथा यह भी निश्चित सिद्धांत है कि मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है। ऐसी कठिनतासे प्राप्त होनेवाली मनुष्यपर्याय प्राप्त कर लेनेपर भी वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंका समागम बहुत ही बडे शुभ कर्मके उदयसे होता है। ऐसे निर्ग्रंथ गुरुओंके समागमको भी जो मनुष्य प्रमाद करता है, अपने आत्माका कल्याण नहीं करता वह अपने मनुष्य जन्मको व्यर्थ ही खो देता है। एक बार खोया

हुआ मनुष्य जन्म फिर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए मनुष्य जन्म पाकरके प्रत्येक श्रावकको समस्त जीवोंपर दया भाव धारण करना चाहिये, सबको क्षमा कर देना चाहिए सबको सुखी बनानेका प्रयत्न करना चाहिये और सबको श्रेष्ठ उपदेशरूपी अमृतका दान करते रहना चाहिए तथा अंतमें गृहस्थावस्थाका त्याग कर ध्यान तपश्चरणके द्वारा समस्त कर्मोंका नाश करना चाहिए और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर लेना चाहिए। मनुष्य पर्याय प्राप्त करनेकी यही सफलता है।

आगे कुतत्त्वोंके मानने, अपनी प्रशंसा करने और पर-निन्दा करनेका निषेध करते हैं।

अज्ञानतः पक्षविमूढतो हि।
मत्वेत्यतत्त्वे वरतत्त्वमेव॥
घोरं च पापं कृतवान् किलात्मन्।
निजप्रशंसां परजीवनिन्दाम्॥ २०॥
तत्पापशान्त्यै च ततो विरुद्धं।
कुरु प्रमोहं प्रविहाय निंद्यम्॥
कृतापराधस्य यतो विनाशः।
सुतत्त्वलाभः सुखदो भवेत्ते॥ २१॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने अपने ज्ञानके कारण अथवा किसी पक्षपातमें फस जानेके कारण कुतत्त्वोंको ही श्रेष्ठ

तत्त्व माना तथा कुतत्त्वोंको श्रेष्ठ तत्त्व मानकर अनेक प्रकारके घोर पाप किए, अपनी प्रशंसाकी और दूसरोंकी निंदा की। इन सब पापोंको नाश करनेके लिए हे वत्स! अत्यन्त निंदनीय ऐसे मोहका त्याग कर तथा कुतत्त्वोंके माननेका त्याग कर, अपनी निंदा कर और दूसरोंकी प्रशंसा कर। हे शिष्य! ऐसा करनेसे ही तेरे किए हुए पापोंका नाश होगा और सुख देनेवाले श्रेष्ठ तत्त्वोंका लाभ होगा।

भावार्थ—इस संसारमें तत्त्व दो प्रकारके हैं, एक जीव तत्त्व और दूसरा अजीव तत्त्व। इन दोनोंमें जीव तत्त्व मुख्य है, अजीव तत्त्व गौण है। जीव तत्त्व उपादेय वा ग्रहण करने योग्य है और अजीव तत्त्व हेय वा त्याग करने योग्य है। इस प्रकार तत्त्वोंके स्वरूपको जानना सम्यग्ज्ञान कहलाता है तथा इससे विपरीत मानना अथवा आत्मतत्त्वको नहीं मानना केवल भौतिक पदार्थोंको ही मानना मिथ्याज्ञान वा अज्ञान कहलाता है। देखो जो अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है उसको दीपक कहते हैं। उसी प्रकार जो अपने आत्माके स्वरूपको जानता हुआ अन्य पदार्थोंके स्वरूपको जानता है वही ज्ञान कहलाता है। जो ज्ञान अपने आत्माके स्वरूपको नहीं जानता वह अन्य पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे नहीं जान सकता। यही कारण है कि आत्मज्ञानके बिना जितना ज्ञान है वह सब मिथ्या-ज्ञान वा अज्ञान कहलाता है। जहां ऐसा अज्ञान होता है वहींपर अनेक प्रकारके पक्षपात

होते हैं तथा वहींपर कुतत्त्वोंको ही तत्त्व मान लिया जाता है। जहां कुतत्वोंको ही तत्त्व मान लिया जाता है, वहांपर अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंकी निंदा करना तो छोटीसी बात है तथा इन सब कामोंके करनेसे महापाप उत्पन्न होता ही है। वह महापाप उत्पन्न न हो इसके लिए हे आत्मन्! तू आत्मतत्त्वको ही उपादेय तत्त्व मान, इसीके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान कर तथा उसीके स्वभावरूप आचरण कर। ऐसा करनेसे पहलेके किए हुए पाप भी सब नष्ट हो जाते हैं, अपनी प्रशंसा और परनिंदा भी छूट जाती है और अत्यंत निंदनीय यह मोह भी छूट जाता है। इस प्रकार मोहके छूट जानेसे आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है और आत्माके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति होनेसे अनंत सुखस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

आगे अभक्ष्यभक्षणके त्यागको कहते हैं—

जिह्वाप्रलोभान्मधुमद्यमांसं ।
घृणास्पदं धर्मविनाशकं हि ॥
निंद्यं सदा कौ व्यसनं व्यथादं ।
कुसंगतः सेवितवान् ह्यभक्ष्यम् ॥ २२ ॥
आत्मन्नतस्त्वं व्यसनस्वरूपं ।
जिह्वाप्रलोभाद्धि भवां स्वहानिम् ॥

ज्ञात्वेति मुक्त्वा कुरु चात्मशुद्धिं ।
यतस्तवात्मेति भवेत्पवित्रः ॥ २३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! देख ! तूने जिह्वा इंद्रियके स्वादके लोभसे अत्यंत घृणित और धर्मको नाश करनेवाले मद्य मांस और मधु वा शहतका सेवन किया। यह मद्य मांस मधुका सेवन करना एक प्रकारका व्यसन है जो कि अत्यंत निंद्य है, अभक्ष्य है और महादुःख देनेवाला है। यह मद्य मांस मधुका सेवन करनेरूप व्यसन तूने नीच लोगोंकी संगतिसे किया। अतएव हे आत्मन ! तू सबसे पहले व्यसनोंका स्वरूप समझ फिर जिह्वाके स्वादके लोभसे होनेवाली हानिको देख ! इन दोनोंका त्याग कर तथा इनके समान अन्य विकारोंका भी त्याग कर, अपने आत्माको शुद्ध बना जिससे कि तेरा आत्मा अत्यंत पवित्र हो जाय।

भावार्थ—आत्माको शुद्ध करनेवाले आत्माके शुद्ध भाव हैं। जिस आत्माका शरीर शुद्ध होता है उसके भाव भी शुद्ध होते हैं तथा जिसका शरीर अशुद्ध होता है उसके भाव भी अशुद्ध होते हैं। इस शरीरके बनने और बढनेमें यदि कारण सामग्री अशुद्ध होती है तो वह शरीर भी अशुद्ध होता है तथा शरीरके बनने वा बढनेके साधन यदि शुद्ध होते हैं तो शरीर भी शुद्ध ही होता है। शरीरके बननेके साधन माता पिताका रजो वीर्य है। यदि माता पिताका रजो वीर्य शुद्ध होता है तो शरीर भी शुद्ध बनता है। जिन माता पिताके कुलमें परंपरासे सदाचार चला आता है उन

माता पिताओंका रजो वीर्य शुद्ध कहलाता है तथा जिन माता पिताओंके कुलमें परंपरासे व्यभिचार वा धरेजा होता है उनका रजोवीर्य अशुद्ध गिना जाता है। इसी प्रकार हम लोग जो भोजन करते हैं वह भी शरीरके बढ़नेका कारण है। यदि हम लोग शुद्ध भोजन करते हैं यहां तक कि शूद्रके हाथका जल तक ग्रहण नहीं करते तो समझना चाहिए कि उस शुद्ध रजो वीर्यसे बना हुआ शुद्ध शरीर उस शुद्ध भोजनसे बढनेपर भी शुद्ध ही बना रहेगा। यदि हम लोग मद्य मांसादिकका सेवन करते हैं तो शुद्ध रजो वीर्यसे उत्पन्न हुआ शुद्ध शरीर भी इन मद्य मांसादिक अशुद्ध पदार्थोंके सेवन करनेसे अवश्य ही अशुद्ध हो जाता है। जहां शरीरकी अशुद्धता होती है वहांपर परिणामोंमें अशुद्धता होना स्वाभाविक है। इसीलिए इन मद्य मांसादिकके सेवनको धर्मका नाश करनेवाला बतलाया है। इसके सिवाय ये पदार्थ अत्यंत घृणित हैं, देखने योग्य भी नहीं हैं अनेक जीवोंका घात करनेसे उत्पन्न होते हैं। इनके सेवन करनेसे क्षणभरके लिए जिह्वाका स्वाद भले ही मिल जाय परंतु वह क्षणभरका स्वाद अनंत दुःखोंको देनेवाला होता है। इसलिए हे आत्मन! तू इनके सेवन करनेका सर्वथा त्याग कर। इनका त्याग करनेसे शरीर पवित्र होता है और शरीरके पवित्र होनेसे आत्मा पवित्र होता है।

आगे व्रतोंमें दोष लगनेपर क्या करना चाहिए सो दिखलाते हैं

गुरूपकंठादतिदुर्लभं को,
व्रतं गृहीत्वा सुखदं पवित्रम् ।
प्रमादयोगाद्यदि भंजितं चेत्
दोषीकृतं मोहवशात् त्वया वा ॥ २४ ॥
तच्छुद्धिमेवं विधिना हि कृत्वा
पुनर्व्रतं पालय तद्विमुक्तम् ।
यतो भवेत्ते कृतकृत्यजन्म,
दृढं मनोपि व्रतशीलधर्मे ॥ २५ ॥

अर्थ—इस संसारमें व्रतोंका पालन करना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि वे व्रत वीतराग निर्ग्रंथ गुरुसे धारण किए जांय तो उनकी महिमा और भी बढ़ जाती है । ऐसे व्रत सदाकाल सुख देनेवाले और पवित्र होते हैं । ऐसे अत्यंत पवित्र और सुख देनेवाले तथा अत्यंत दुर्लभ व्रतोंको वीतराग निर्ग्रंथ गुरुसे धारण करके भी यदि हे आत्मन ! तूने प्रमादके वशीभूत होकर उनका भंग किया हो अथवा मोहके वशीभूत होकर उनमें कोई दोष लगाया हो तो हे शिष्य ! तू उसकी शुद्धि विधिपूर्वक कर और उन व्रतोंको फिरसे धारण कर, निर्दोष रीतीसे पालन कर । ऐसा करनेसे ही तेरा यह जन्म कृतकृत्य वा कृतार्थ हो जायगा और तेरा मन भी व्रत शील और धर्मके पालन करनेमें अत्यंत दृढ हो जायगा ।

भावार्थ—प्रथम तो श्रेष्ठ गुरुओंका समागम मिलना ही

अत्यंत कठिन है, किसी श्रेष्ठ शुभ कर्मके उदयसे ही गुरुओंका समागम मिलता है। ऐसा गुरुओंका समागम मिलनेपर तथा उनसे निर्मल व्रत ग्रहण कर ग्रहण कर लेनेपर फिर उन व्रतोंको बडे प्रयत्नसे पालन करना चाहिये। शास्त्रोंमें लिखा है " विमृश्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः " अर्थात् व्रतोंको विचारपूर्वक धारण करना चाहिए। ग्रहण किये हुए व्रतोंको प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्रत धारण करते हैं उनसे आत्माका कल्याण होता है वा नहीं। संसारमें व्रतके नामसे बहुतसे ऐसे व्रत प्रचलित हैं जिनको धारण करनेपर भी लोग कन्द मूलादिकका भक्षण करते हैं। ऐसे व्रतोंके पालन करनेसे कर्मोंका नाश नहीं होता किन्तु कन्दमूलादिकका भक्षण करनेसे कर्मोंका ही बंध होता है। इसलिए ऐसे व्रतोंसे कोई लाभ नहीं होता। व्रत उन्हींको कहते हैं जिनमें हिंसादिक पापोंका त्याग हो जाय और राग द्वेषादिक विकारोंका त्याग हो जाय। हिंसादिक पापोंके त्याग हो जानेसे वा राग द्वेषादिकका त्याग हो जानेसे ही कर्मोंका नाश होता है। ऐसे व्रत वीतराग निर्ग्रंथ गुरु ही दे सकते हैं। अन्य सरागी, परिग्रहको धारण करनेवाले गुरु न तो ऐसे व्रत पालन कर सकते हैं और न दूसरोंको दे सकते हैं। इसलिए वीतराग श्रेष्ठ गुरुओंसे ही व्रत धारण करने चाहिए तथा ऐसे गुरुओंसे धारण किए हुए व्रतोंको प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। उनमें न तो किसी प्रकारका दोष लगाना चाहिए और न उनको

भंग करना चाहिए। यदि कदाचित किसी प्रमादसे वा मोहसे किसी व्रतमें दोष लग जाय वा कोई व्रत भंग हो जाय तो सावधान होकर विधिपूर्वक उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए तथा प्रायश्चित्त लेकर फिर व्रतोंको दोषरहित पालन करते रहना चाहिए। इस प्रकार निर्दोष व्रतोंके पालन करनेसे ही श्रावकोंका जन्म कृतार्थ गिना जाता है तथा इस प्रकार व्रतोंके पालन करनेसे मन भी उन व्रतोंमें तथा धर्म वा शील पालन करनेमें अत्यन्त दृढ हो जाता है।

आगे कुगुरुओंके सम्बन्धके त्यागको कहते हैं—

भ्रांतिप्रदे क्लेशकरे निगोदे
श्वभ्रे व्यथादे कुगुरोः प्रसंगात्।
तिर्यग्गतौ निंद्यतरे कुयोनौ
प्रतिक्षणं प्राणहरे भवाब्धौ ॥ २६ ॥
हा भ्रद्‌गुरोस्त्वं भ्रमितो विनासि
ज्ञात्वेति मुक्त्वा कुगुरोः प्रसंगम्।
कुरु प्रसंगं सुगुरोः कृपाब्धे-
र्यतः स्वराज्यं हि तवाश्रयं स्यात् ॥ २७ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख, कुगुरुओंकी सेवा करनेसे ही तूने आजतक अत्यन्त क्लेश उत्पन्न करनेवाले और सदाकाल भ्रांति उत्पन्न करनेवाले निगोदमें परिभ्रमण किया है,

महादुःख देनेवाले प्रतिक्षण प्राणोंको हरण करनेवाले और अत्यन्त निंदनीय ऐसे नरकमें परिभ्रमण किया है और अत्यन्त निकृष्ट योनि कहलानेवाली तिर्यचगतिमें परिभ्रमण किया है। हे शिष्य! इसप्रकार तूने वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी सेवा न करनेसे तथा कुगुरुकी सेवा करनेसे अनन्तकाल तक संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण किया है। अतएव हे शिष्य! अब तू कुगुरुओंकी सेवा करनेका सर्वथा त्याग कर दे और कृपाके सागर समस्त जीवोंपर दया धारण करनेवाले वीतराग निर्ग्रंथ गुरुओंकी सेवा करनेसे ही मोक्षरूपी स्वराज्य तेरे अधीन हो जायगा।

भावार्थ—जिनकी विषय लालसा सर्वथा नष्ट हो गई है जो खेती वाडी, रोटी, पानी आदि किसी प्रकारका आरम्भ नहीं करते हैं, वस्त्रादिक किसी प्रकारका परिग्रह धारण नहीं करते हैं और जो पठन-पाठनमें वा तपश्चरण वा ध्यानमें सदाकाल लीन रहते हैं उनको श्रेष्ठ वीतराग निर्ग्रंथ गुरु कहते हैं। जो साधु साधु होकर भी इससे विपरीत वृत्ति धारण करते हैं वस्त्र रखते हैं, खेती-वाडी करते हैं, झोंपडी बनाकर रहते हैं, रोटी करते हैं, पानी भरते हैं, जो दिनभर मांगते रहते हैं तथा जिनकी विषय तृष्णा अत्यन्त बढी हुई है, जो चाहे जैसी स्त्री भी रख लेते हैं, भांग चरस, गांजा, शराब आदि अत्यन्त निषिद्ध और घृणित पदार्थोंका सेवन करते हैं उनको कुगुरु कहते हैं, ऐसे कुगुरु पत्थरकी नावके समान होते हैं, आप भी डूबते हैं और अपने सेव-

फको भी ले डूबते हैं। इसलिए ऐसे कुगुरुओंसे सदाकाल बचते रहना चाहिए। जो स्वयं चरस गांजा पीते हैं उनसे मोक्षमार्गका उपदेश कभी नहीं मिल सकता। उनसे तो वही चरस गांजेका उपदेश मिलेगा। इसलिए हे आत्मन्! तू ऐसे कुगुरुओंका सम्बन्ध छोड और समस्त जीवोंपर दया करनेवाले निर्ग्रंथ गुरुओंकी सेवा कर। निर्ग्रंथ गुरु सदाकाल मोक्षमार्गमें लगे रहते हैं तथा शिष्योंको भी उसी मोक्षमार्गमें लगाते रहते हैं। इसलिए ऐसे श्रेष्ठ गुरुओंकी सेवा करनेसे इस जीवको शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है।

आगे किसीका अपराध होनेपर उससे क्षमा प्रार्थनाके लिए कहते हैं—

चतुर्गतेर्दुःखमये भवे वाऽ-
ज्ञानेव नित्यं भ्रमता त्वया ये।
विनिन्दिताः क्रोधनवर्जिताश्च,
कृतास्तथा प्राणविवर्जिता ये ॥ २८ ॥
विराधिताः स्वार्थवशाद्धि जीवाः,
क्षमां च याचस्व ततश्च तेभ्यः।
यतस्तयात्मेति भवेद्विशुद्धः
स्थिरः सदा स्वात्मरसे हि तृप्तः ॥ २९ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अपने अज्ञानके कारण चारों गतियोंके दुःखोंसे भरे हुए इस संसारमें सदाकाल परिभ्र-

मण करता रहता है। इसप्रकार परिभ्रमण करते हुए तूने अनेक जीवोंकी निंदा की है, अनेक जीवोंको मारोहित किया है, अनेक जीवोंको प्राणरहित किया है तथा अपने स्वार्थके वशीभूत होकर अनेक जीवोंकी विराधना की है। हे आत्मन्! अब तू उन सबसे क्षमा मांग। अपने किए हुए पापोंका पश्चात्ताप करनेसे तथा उनसे क्षमा प्रार्थना करनेसे यह तेरा आत्मा शुद्ध हो जायगा तथा अपने शुद्ध आत्माके रसमें सदाके लिए स्थिर और तृप्त हो जायगा।

भावार्थ—किए हुए अपराधका पश्चात्ताप करना और जिसका अपराध किया है उससे क्षमा मांगना प्रायश्चित्त कहलाता है। यह ठीक है कि पश्चात्ताप करनेसे अथवा उससे क्षमा मांग लेनेसे जिसका अपराध किया है उसका बिगड़ा हुआ कार्य नहीं सुधर सकता। जिसका धन हरण किया है उसका धन नहीं मिल सकता, जिसके प्राण हरण किए हैं उसके प्राण वापिस नहीं आ सकते तथा जिसकी विराधना की है वह फिर उसी रूपमें नहीं हो सकता। तथापि जब यह प्राणी उन पापोंसे डरता है, पापोंसे भयभीत होता है और फिर उन पापोंको करनेकी इच्छा नहीं करता, वही पुरुष उन किए हुए पापोंका पश्चात्ताप कर सकता है तथा वही क्षमा मांग सकता है। इसीलिए आचार्योंने किए हुए पापोंका पश्चात्ताप करने और क्षमा मांगनेको प्रायश्चित्त कहा है। प्रायः शब्दका अर्थ पाप है और चित्त शब्दका अर्थ शुद्धि है जिसके करनेसे पापोंकी शुद्धि हो

जाय, पाप नष्ट हो जांय उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। प्राय-श्चित्त लेनेसे पापोंकी शांति अवश्य होती है। क्यों कि पापोंसे भयभीत होनेके कारण प्रायश्चित्त लेनेवालेके परिणाम ही बदल जाते हैं तथा शुभरूप परिणत हो जाते हैं। यह सब श्रेष्ठ गुरुओंके समागमका फल है। श्रेष्ठ गुरुओंके दर्शनसे तथा उनके उपदेशसे अवश्य ही आत्मा पवित्र होता है। अतएव श्रावकोंका कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन सामायिक और प्रतिक्रमण करें तथा प्रतिक्रमणमें अपने सब अपराधोंकी आलोचना करते हुए पश्चात्ताप करे और जिनका अपराध किया है उनसे क्षमा मांगे तथा फिर ऐसा अपराध न कर-नेका नियम ले। ये सब आत्माको पवित्र करनेके साधन हैं।

आगे स्थावर जीवोंकी हिंसाकी आलोचना करते हैं—

पंचप्रकाराश्च गतापराधाः,
विराधिताः स्थावरकायजीवाः।
स्वार्थाभिवृद्ध्यै ह्यतिनिर्दयेन,
दुःखीकृता नो बहवो हताश्च ॥ ३० ॥
त्वयेत्यभाग्येन निरंकुशेन,
ततश्च तद्दोषविनाशनार्थम्।
कुर्वात्मनिन्दां हि परप्रशंसां,
विद्यालयस्थापनवर्द्धनादिम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! भाग्यहीन तूने अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए निर्दय होकर पांचों प्रकारके अपराधरहित स्थावरकायिक जीवोंकी विराधना की है तथा पांचों प्रकार के स्थावरकायिक जीवोंको दुःखी किया है और उनका नाश किया है। इसलिए हे आत्मन्! उन समस्त दोषोंके दूर करनेके लिए तू अपनी निंदा कर, जो हिंसादिक पाप नहीं करते उनकी प्रशंसा कर और इस प्रकारके आत्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाले विद्यालयोंको स्थापन कर तथा धनादिकके द्वारा उनकी वृद्धि कर।

भावार्थ—गृहस्थावस्थामें स्थावरकायिक जीवोंकी हिंसा होती ही है। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच प्रकारके स्थावरकायिक कहलाते हैं। ये पांचों प्रकारके जीव किसीका कुछ अपराध नहीं करते, वे स्वयं इतने निर्बल हैं कि न कुछके समान हैं फिर भला वे दूसरोंका अपराध कैसे कर सकते हैं। तथापि हे आत्मन्! तूने न जाने कितनी पृथ्वी खुदवाई है, कितने खेत जुतवाये हैं और उससे न जाने कितने पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा की है। गृहस्थावस्थामें न जाने कितना पानी फैलाया है, न जाने कितनी बार नदियोंमें वा कूवा बावडियोंमें स्नान किया है, न जाने कितना पानी पिया है, न जाने कितने पानीसे वस्त्र धोये हैं। इन सबमें न जाने कितने जलकायिक जीवोंकी हिंसा की है। इसी प्रकार न जाने कितनी बार भोजन बनानेके लिये अग्नि

जलाई है, न जाने कितनी वार तापनेके लिये अग्नि जलाई है, न जाने कितनी बार खेत वा जंगल जलाये हैं और न जाने कितनी बार अग्नि बुझाई है। इन सब कामोंमें न जाने कितने अग्निकायिक जीवोंका घात किया है। गर्मीके दिनोंमें न जाने कितनी बार पखा चलाया है और खरियानोंमें न जाने कितनी वार वायुके झकोरोंसे भूसा उड़ाया है। इन सब कामोंमें न जाने कितने वायुकायिक जीवोंका घात किया है। वनस्पतिकायिक जीवोंमें न जाने कितने शाक, भाजी खा डाले हैं, न जाने कितने फल खा डाले हैं, न जाने कितनी शाखाएं तोड़ी हैं, न जाने कितने वृक्ष कट-वाये हैं, न जाने कितने खेत कटवाये हैं और न जाने कितनी घास खुदवाई है। इन सब कामोंमें न जाने कितने वनस्पतिकायिक जीवोंका घात किया है। हे आत्मन्! अब तू इन सब कर्मोंकी निंदा कर पश्चात्ताप कर और उन सब पापोंको शान्त करनेके लिए आत्मज्ञानको बढानेवाले वा पापोंका त्याग करानेवाले शास्त्रोंका पठन-पाठन कर। ऐसे शास्त्रोंके पढनेके साधन विद्यालय स्थापन कर और सब प्रकारसे उनकी वृद्धि वा रक्षा कर। ऐसा करनेसे पाप शांत होंगे और आगेके लिए पुण्यकर्म तथा रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी।

आगे विना छना पानी काममें लानेकी आलोचना कहते हैं—

अगालितेनैव जलेन नित्यं
सूक्ष्मादिजन्तोश्च कलेवरेण।

स्नानं सदा त्वं कृतवानगाह्यः,
हतात्मबुद्धिः खलु निर्दयो वा ॥ ३२ ॥
तत्कारणादेव वहुश्च जीवो,
मृतो हि छिन्नोपि वभूव भिन्नः ।
तेभ्यः क्षमां याचय पापशान्त्यै,
स्वर्मोक्षदं त्वं कुरु दानधर्मम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! देख विना छना हुआ जल अनेक सूक्ष्म जीवोंका कलेवर है परतु फिर भी तूने अपनी श्रेष्ठ बुद्धि खोकर और निर्दय होकर उसी विना छने नदी' वा सरोवरोंके जलमे डुबकी लगाकर स्नान किया, जिससे बहुतसे जीव मर गए, बहुतसे जीव छिद गए और बहुतसे जीव भिद गए। हे आत्मन् ! अव तू उन अपने पापोंको शांत करनेके लिए उन समस्त जीवोंसे क्षमा मांग । स्वर्ग मोक्ष देनेवाला पात्रदान कर और रत्नत्रयरूप धर्मको धारण कर ।

भावार्थ—विना छने पानीकी एक बूंदमें भी असंख्यात जीव होते हैं, फिर भला बहुतसे जलमें न जाने कितने जीव होंगे इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। जो जीव बहुतसे जलमें डूबकर स्नान करते हैं वा तैरते हैं व जलक्रीडा करते हैं वे न जाने कितने त्रसजीवोंका घात करते है और न जाने कितने जीवोंका छेदन-भेदन करते हैं । हे आत्मन् !

तूने भी न जाने कितनीवार जलक्रीडा की है और न जाने कितने पानीमें तैरा है। इन सब कामोंमें तूने महापाप उत्पन्न किया है। इसलिए उन पापोंको शांत करनेके लिए उन सब जीवोंसे क्षमा मांग, उन पापोंका पश्चात्ताप कर और आगे ऐसे पाप न करनेके लिए नियम ले। इसके सिवाय हे आत्मन् ! तू उन पापोंको शांत करनेके लिए पात्रदान कर तथा धर्म धारण कर।

आगे फल पुष्प वा शाखा आदिके विराधनेकी आलोचना लिखते हैं—

शाखासमूहैः सुफलादिपुष्पै-
र्विभूषिताः को तरवः सजीवाः।
वान्ये तथा स्थूलतराश्च सूक्ष्माः,
पृथ्व्यादिकायाश्च विराधिता ये ॥ ३४ ॥
अज्ञानतः स्वार्थवशाद्धि हा हा,
त्वया ह्यभाग्येन निजात्महन्त्रा।
मिथ्या यतः स्याद्धि कृतापराधः,
तेभ्यः क्षमां याचय शुद्धबुद्ध्या ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! देख, इस संसारमें अनेक प्रकारके स्थूल वा सूक्ष्म सजीव वृक्ष अपनी शाखाओंसे तथा फल पुष्पोंसे सुशोभित हो रहे हैं। इनके सिवाय पर्वत वा नदि-

योंके पृथ्वीकाय वा जलकाय आदि जीव भी अपनी शोभा बढा रहे हैं। परन्तु हे आत्मन्! अपने ही आत्माका घात करनेवाले तूने अपने अशुभ कर्मके उदयसे अपने अज्ञान वा अपने स्वार्थके वशीभूत होकर उन सबकी विराधना की है। उन सब जीवोंकी विराधनासे होनेवाला तेरा पाप मिथ्या हो इसके लिए हे आत्मन्! तू अपने शुद्ध हृदयसे उन सबसे क्षमा मांग।

भावार्थ—इस संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब इस संसारकी शोभा बढानेके लिए हैं। देखो, जंगलोंमें वा वनोंमें बडे बडे वृक्ष होते हैं और वे बडे सुन्दर लगते हैं, परन्तु हमलोग अपने स्वार्थके वशीभूत होकर अपने कामके लिए उनको कटवा डालते हैं, अथवा किसीकी शाखाए कटवा डालते हैं, किसीकी छाल कटवा लेते हैं और किसीके पत्ते तुडवा लेते हैं। छोटे छोटे पौधोंको शाक-भाजीके लिये उखडवा लेते हैं वा उनके फूल तुडवा लेते हैं वा फल तुडवा लेते हैं। इन सबको तुडवा लेना उनका घात करना है तथा साथमें अपने आत्मामें कलुषता तृष्णा वा लोभ होनेके कारण अपने आत्माका भी घात करना है। इसप्रकार अपने थोडेसे स्वार्थके लिए अपने आत्माका भी घात करते हैं और अन्य अनेक जीवोंका भी घात करते हैं। इसीप्रकार पर्वतोंको तोड डालते हैं, उनके पत्थर फोड लेते हैं नदियोंका जल काममें लाते हैं यह सब पृथ्वीकायिक तथा जलकायिक जीवोंका घात करना है। इन सबके घात करनेमें हिंसाजन्य

महापाप उत्पन्न होता है। हे आत्मन्! तूने भी सब पाप किए हैं इसलिए अब तू उस पापके लिए पश्चात्ताप कर, सबकी आलोचना कर, सबसे क्षमा मांग और अब आगेके लिए सबको क्षमा कर। ऐसा करनेसे तेरा पहलेका पाप शांत होगा और आगेके लिए अशुभ कर्मोंका बंध रुक जायगा।

आगे व्रतादिक न करने और अशुभ कार्योंके करनेकी निंदा करते हुए उनके त्यागको कहते हैं—

व्रतोपवासः सुखदं तपो न,
कृतं तथा कारितमेव नान्यैः।
स्वर्मोक्षदं संयमशीलरत्नं,
न रक्षितं प्रेरितमेव नान्यम्॥ ३६॥

त्वया प्रमोहाद् विविधं हि किंतु,
कृतं व्यथादं विषयं कुकर्म।
तच्छांतिहेतोः कुरु चित्तशुद्धिं,
यतो भवेत्ते सफलं नृजन्म॥ ३७॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख, तूने न तो आजतक कोई व्रत पालन किया है, न उपवास किए, न सुख देनेवाला तपश्चरण धारण किया और न ये सब काम दूसरोंसे कराये हैं। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष देनेवाले संयम और शीलरूपी रत्नोंकी

रक्षा न तो तूने स्वय की है और न इनकी रक्षा करनेके लिए किसी दूसरेसे प्रेरणा की है। इसके विपरीत मोह जाल में फसकर तूने महादुःख देनेवाले अनेक प्रकारके कुकर्म किए हैं और उनसे महापाप उत्पन्न किए हैं। हे आत्मन्! अब उन समस्त पापोंको शांत करनेके लिए अपने हृदयको शुद्ध कर जिससे कि तेरा मनुष्य-जन्म सफल हो जाय।

भावार्थ—व्रत उपवास करना वा तपश्चरण करना आत्माके कल्याणका कारण है, क्यों कि इन सब कार्योंके करनेसे विषयोंकी तृष्णा घटती है, क्रोधादिक कषायोंका अभाव होता है, इन्द्रियोंका निग्रह होता है और समस्त जीवोंकी रक्षा होती है। विषयोंकी तृष्णा और कषायोंका अभाव होनेसे अशुभ कर्मोंका बंध नहीं होता तथा इंद्रियोंका निग्रह करनेसे और जीवोंकी रक्षा करनेसे शुभ कर्मोंका बंध होता है। तपश्चरणके करनेसे पहलेके इकट्ठे किए हुए समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है। इसी प्रकार संयम और शीलकी रक्षा करनेसे भी कर्मोंका आस्रव रुक जाता है और संचित कर्मोंका नाश हो जाता है। हे आत्मन्! यदि तूने ये व्रत उपवास वा तपश्चरण आदि किए होते तो तुझे अवश्य ही रत्नत्रय वा मोक्षकी प्राप्ति हो गई होती अथवा तेरे परिणामोंमें अनन्त शुद्धता आ गई होती। परंतु हे आत्मन्! तू जो आजतक मोह जालमें ही फंस रहा है और उसी मोह जालमें फसे रहनेके कारण अनेक प्रकारके कुकर्म करता रहता है। जिस किसी धनी पुरुषके पुत्र नहीं होता उसके पास यदि कोई

उसके समीपी बंधुका लडका कुछ मांगने आता है तो वह धनी उसको एक पैसा भी नहीं देता, क्यों कि वह धनी उस लडकेको अपना नहीं समझता। परन्तु समय और कारण पाकर जब वही धनी उसी लडकेको अपनी गोदी बिठा लेता है तब वह उसके लिए सब कुछ दे डालता है। यदि वह माना हुआ पुत्र बीमार हो जाय तो वह धनी उसे देख देखकर बहुत दुःखी होता है तथा उसके लिए सब तरहके पाप और सब कुछ करनेको तैयार हो जाता है। क्या यह मोह मिथ्या नहीं है? उस लडकेको केवल 'अपना' मान लेनेमें ही सब तरहके पाप करने पडते हैं। इसी प्रकार संसारके अन्य पदार्थोंको भी अपना मान लेनेसे ही महापाप उत्पन्न करने पडते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो सिवाय आत्माके और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है। आत्माके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थको अपना मान लेना मोह है, और यही नरक निगोदादिकका कारण है। इसलिए हे आत्मन्! तू इस मोहका त्याग कर। मोहका त्याग करनेसे ही हृदयकी शुद्धि तथा आत्माकी शुद्धि होती है और इसीसे मनुष्य-जन्मकी सफलता सिद्ध होकर अनन्तसुखकी प्राप्ति होती है।

आगे कन्द-मूलादिकके भक्षण करनेकी आलोचना करते हैं—

कन्दादिमूलं च निगोदपिंडं
ह्यन्नं सचित्तं भवदं प्रभुक्तम्।
सूक्ष्मः प्रियो वै हरितांकुरादिः
त्वया मनोजश्च विराधितो वा ॥ ३८ ॥

तद्दोपसंख्यां गदितुं न शक्तः,
शक्रः परेषां हि कथैव कास्ति।
तथापि ते स्यात्कृतकर्मनाशो,
भक्त्यैव धर्मं यदि त्वङ्करोपि ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने निगोदराशिका पिंड स्वरूप ऐसे अनेक कन्द-मूलादिकका भक्षण किया है, जन्म-मरणरूप संसारको बढानेवाले सचित्त अन्नका भक्षण किया है अथवा बहुत प्रिय और बहुत मनोहर ऐसे सूक्ष्म हरे अंकुरों की विराधना की है। हे आत्मन्! इन सब कार्योंके करनेमें जो पाप वा दोष उत्पन्न हुए हैं उनकी संख्या कहनेके लिए इन्द्र भी समर्थ नहीं है। हे आत्मन! अब भी यदि तू भक्ति पूर्वक धर्मका सेवन करेगा तो इतने बडे पापोंसे उत्पन्न होने-वाले कर्म भी अवश्य नष्ट हो जायेंगे।

भावार्थ—कन्द मूल सब अनन्तानन्त जीवोंका पिंड होता है और वह इसप्रकार होता है। जिसप्रकार जम्बूद्वीपमें भरतादि क्षेत्र हैं, भरतक्षेत्रमें कौशलादिदेश हैं, कौशलदेशमें साकेतादिनगर हैं और साकेतनगरमें घर हैं उसीप्रकार एक-एक स्कंधमें असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं, एक-एक अंडरमें असंख्यात लोकप्रमाण आवास हैं और एक-एक आवासमें असंख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं। एक-एक पुलवीमें अनन्तानन्त जीव हैं। इसप्रकार एक-एक स्कंधमें अनन्तानन्त जीव होते हैं। एक-एक बादर निगोद शरीरमें

जो अनंतानन्त जीव होते हैं उनमेंसे जब एक श्वास लेता है तब सब श्वास लेते हैं, जब एक आहार लेता है तब सब आहार लेते हैं, जब एक मरता है तब सब मर जाते हैं और जब एक जन्म लेता है तब सब जन्म लेते हैं। इस प्रकारकी निगोदराशि गाजर, मूली, अरवी, सूरण, कंद आदि सबमें हैं, गन्नेकी गांठमें भी ऐसी ही निगोद राशि है। जो छिन्न भिन्न करनेपर भी उत्पन्न हो जाय ऐसी डालको वा मूलको सबको निगोदराशि समझना चाहिए। ककडी जब उत्पन्न होती है तब वह साधारण निगोदराशिमें गिनी जाती है, उसपर जो सफेदी रहती है तथा रेखायें उत्पन्न नहीं होती और हाथसे तोडनेपर बराबर एकसे (चाकूसे काटनेके समान) दो भाग हो जाते हैं ऐसी ककडी साधारण निगोद-राशिमें शामिल है, वही ककडी जब बढ जाती है उसमें रेखायें उत्पन्न हो जाती हैं और हाथसे तोडनेपर दो टुकडे समान नहीं होते, दोनों टुकडोंमें नोंकें निकली रहती हैं ऐसी ककडी फिर साधारण नहीं रहती फिर वह प्रत्येक हो जाती है। इसी प्रकार गवारपाठा साधारण निगोदराशि है, बरग-दकी छाल भी निगोदराशिरूप है तथा बहुतसे फूल पत्ते निगोदराशिरूप हैं। प्राय: प्रथम ही उत्पन्न होनेवाले अंकूरे तथा प्रथम ही उत्पन्न होनेवाले फल साधारण निगोदराशि-रूप हैं। आत्मन्! तूने भी अनेक बार इनका सेवन किया है और अनंतानत जीवोंका घात किया है इसलिए अब तू क्षमा मांग अपने हृदयमें पश्चात्ताप कर और धर्मका सेवन

कर तथा आगे कभी भी इनके सेवन न करनेका नियम ले।
हे आत्मन! ऐसा करनेसे ही तेरे पापोंकी शांति होगी और
स्वर्ग मोक्षादिकके सुखोंकी प्राप्ति होगी।

आगे दान धर्म आदि न करनेकी आलोचना दिखलाते हैं।

कुटुम्बमोहादिवशात्त्वया कौ।
तथान्यकार्यादिवशाद्धि हा हा ॥
शिवप्रदो नार्चनदानधर्मः।
कृती कृतो वांछितदो न भक्त्या ॥ ४० ॥
ततस्तवात्मा खलु निन्दनीयो।
बभूव दीनश्च पदे पदे हि ॥
ज्ञात्वेति दानादिविधिर्विधेयो
यतः प्रपूज्योपि भवेत्सुखीह ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे आत्मन! कुटुम्बी लोगोंके मोहमें फसकर
अथवा अन्य अनेक कार्योंमें फंसे रहनेके कारण तूने समस्त
इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला अत्यन्त कृतार्थ और मोक्षको
देनेवाला दान पूजा आदि धर्म भक्तिपूर्वक पालन नहीं किया।
हे आत्मन्! इसीलिए तू अत्यन्त निंदनीय होगया है और
पद-पद पर दीन बनता रहा है। हे आत्मन्! यही समझकर
अब तू दान पूजा आदि श्रेष्ठ धर्मको धारण कर जिससे कि तू
तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हो जाय और अनन्तसुखी हो जाय।

भावार्थ—यह मनुष्य सवेरेसे शामतक वा राततक

कमाने खानेमें लगा रहता है तथा उस कमाने खानेके कार्योंमें अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न किया करता है यह बात ठीक है कि संसारमें आकर कमाना खाना पडता है और उसके लिए सब काम करने पडते हैं। परन्तु वे सब काम विचारपूर्वक निर्दोष रीतिसे करने चाहिये, जिससे अधिक पाप न लग सके तथा जो कुछ थोडा बहुत पाप लगता है उसको दूर करनेके लिए दान देना चाहिए। सर्वोत्तम पात्रदान देना चाहिए और प्रतिदिन प्रातःकाल भगवान् जिनेंद्रदेवकी पूजा करनी चाहिए। ये दोनों काम उन आरंभ और परिग्रहसे उत्पन्न होनेवाले पापोंको नाश करनेवाले हैं। मुनि लोग अपने तपश्चरण और ध्यानके द्वारा अपने कर्मोंको नाश करते हैं परंतु उस तपश्चरण और ध्यानमें गृहस्थोंका दिया आहार भी साधन है। इसलिए जो गृहस्थ प्रतिदिन मुनियोंको आहारदान देता है वह उस ध्यान और तपश्चरणकी वृद्धिका साधन होनेसे महापुण्य उपार्जन करता है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थको प्रति दिन आहारदान देनेका संकल्प करना चाहिए। इसी प्रकार भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा भी प्रति दिन प्रातःकाल उठकर करनी चाहिए। भगवानकी पूजा करनेमें भावोंकी अत्यंत निर्मलता होती है। देखो, मेंढक एक कमलका दल लेकर पूजा करने जा रहा था और मार्गमें हाथीके पैरके नीचे दबकर मर गया परंतु पूजाके संकल्पसे उसके परिणामोंकी विशुद्धि बढ गई थी और इसीलिए वह मरकर उत्तम देव हुआ था तथा तुरत ही भगवान महावीर

स्वामीकी वंदना करने समवसरणमें पहुंच गया था। भगवानकी पूजाका माहात्म्य बहुत ही विचित्र और बहुत ही ऊंचा है। इसलिए प्रत्येक श्रावकको अपने सब काम छोड़कर भगवानकी पूजा करनी चाहिए। जो लोग साधन मिलनेपर भी भगवानकी पूजा नहीं करते हैं वा पात्रदान नहीं देते हैं वे अवश्य ही निंदनीय और दीन होते हैं, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तू दीन और दरिद्री नहीं होना चाहता है तो प्रतिदिन भगवानकी पूजन कर और प्रतिदिन पात्रदान दे, जिससे कि स्वर्गादिकके सुख भोगकर सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाय।

आगे सावद्य वा पापपूर्वक होनेवाले आरंभ कार्योंकी आलोचना करते हैं—

त्वया प्रमूढेन सुनिर्दयेन,
ह्यारम्भकार्याण्यसुनाशकानि।
संसारमूलानि कषायदानि,
सावद्ययुक्तानि सदा कृतानि ॥४२॥

सावद्यकार्यं भवदं प्रमुक्त्वा,
कुरु क्षमादं निरवद्यकार्यम्।
यतस्तवात्मापि भवेत्कृतार्थी,
प्रसंसनीयो हि नरामरेन्द्रैः ॥४३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू अत्यन्त मूर्ख और अत्यन्त निर्दय होकर जन्म—मरणरूप संसारको बढानेवाले, क्रोध मान माया लोभ आदि कषायोंको बढानेवाले, अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करनेवाले और अनेक प्राणियोंको नाश करनेवाले आरम्भ कार्य सदाकालसे वा अनंत कालसे करता रहा है। इसलिए हे आत्मन्! अब तो तू संसारको बढानेवाले इन पापोंका त्याग कर और क्षमा मार्दव आदि आत्माके गुण बढानेवाले पाप रहित कार्योंको करते रहो, जिससे कि तेरा आत्मा कृत-कृत्य हो जाय और इन्द्र नरेन्द्रोंके द्वारा भी प्रशंसनीय हो जाय।

भावार्थ-खेती करना, व्यापार करना, सेवा करना, मुनीमी करना आदि आरम्भकार्य कहलाते हैं। इनमेंसे बहुतसे कार्य ऐसे हैं जिनमें जीवोंकी हिंसा बहुत थोडी होती है। गृहस्थावस्था में रहकर आरम्भ कार्य करने पडते हैं परन्तु वे इस प्रकार करने चाहिए जिसमें जीवोंकी हिंसा न हो या बहुत थोडी हो। जिन कार्योंके करनेमें हिंसा अधिक हो ऐसे कार्य श्रावकोंको कभी नहीं करने चाहिये। क्यों कि जितनी हिंसा अधिक होगी उतना ही पाप अधिक लगेगा तथा जितना पाप अधिक लगेगा उतना ही संसारमें अधिक परिभ्रमण करना पडेगा और उतना अधिक महादुःख भोगना पडेगा। इसलिए हे आत्मन्! अब पाप युक्त कार्योंका त्याग कर और पात्रदान वा जिनपूजन आदि पापरहित कार्योंमें ही अपना

मन लगा। इन कार्योंके करनेसे तेरा आत्मा पवित्र हो जायगा, पूज्य हो जायगा और फिर इन्द्र चक्रवर्ती आदि महापुरुष भी तेरी प्रशंसा करते रहेंगे।

आगे भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंमें होनेवाले दोषोंकी आलोचना करते हैं—

अतीतकाले वरवर्तमाने,
ह्यनागते वा विफलो व्यथादः।
प्रमत्तयोगाद्विषमस्त्वया हा,
दोषः कृतः कारित एव निंद्यः ॥४४॥
कृतस्य दोषस्य ततो विनाशो,
भवेत् त्रिकालेपि तथा न दोषः।
तादृग् विधानं सुखदं कुरु त्वं,
स्यात्ते त्रिलोकोपि सदा स्वदासः ॥४५॥

अर्थ—हे आत्मन्! तूने अपने प्रमादसे अतीत अनागत और वर्तमान कालमें कुछ भी फल न देनेवाले तथा महादुःख देनेवाले, अत्यन्त विषम और महा निन्दनीय दोष किए हैं तथा दूसरोंसे कराये हैं। हे आत्मन्! अब तू सुख देनेवाला ऐसा कार्य कर जिससे किए हुए दोषोंका नाश हो जाय तथा तीनों कालोंमें फिर कोई दोष उत्पन्न न हो और यह तीनों लोक तेरा दास बन जाय।

भावार्थ—यह जीव व्यतीत हुए अनन्त कालमें महा-

पाप उत्पन्न करता रहा है। यदि अतीत कालमें महापाप उत्पन्न न करता तो अब तक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता। अब तक जो इस जीवको सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हुई है इसीसे साबित होता है कि इस जीवने अतीतकालमें महापाप उत्पन्न किये हैं। तथा वर्तमानकालमें कर ही रहा है, यह प्रत्यक्ष है। तथा अभी पापोंका त्याग नहीं किया है इससे सिद्ध होता है कि यह जीव आगेके भविष्यत्कालमें भी पाप करता रहेगा। इसप्रकार इस जीवके भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें दोष वा पाप उत्पन्न होते रहते हैं, जिनसे कि यह जीव महादुःख भोगता रहता है। हे आत्मन्! यदि तू अब उन पापोंसे तथा उन पापोंसे उत्पन्न होनेवाले महादुःखोंसे भयभीत हो रहा है तो ऐसा जप तप कर जिसमें पहलेके सब पाप नष्ट हो जांय और आगे भी कभी पाप उत्पन्न न हो। इस संसारमें जप तप वा ध्यान ही एक ऐसा विधान है जिससे पहलेके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं और आगेके लिए कर्मोंका बंध नहीं होता। कर्मोंके नष्ट हो जानेसे इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है, अनन्तसुखकी प्राप्ति हो जाती है और फिर तीनों लोक उसका दास हो जाता है वा उसकी पूजा किया करता है। आगे अरहंत सिद्ध जिनागम, जिनालय आदिकी निंदा करनेकी आलोचना करते हैं।

जगत्प्रभोश्चार्हत एव हा हा।
सिद्धस्य शुद्धस्य शिवप्रदस्य॥

स्वर्गमोक्षदस्येति जिनागमस्य ।
सावद्यहर्तुर्जिनमंदिरस्य ॥ ४६ ॥
कुसंगतोऽज्ञानत एव निंदा।
ह्यनादराादिश्च त्वया दुरात्मन् ॥
कृतः प्रदोषः कुटिलस्ततस्त्वं !
तत्पादसेवां कुरु तत्प्रशान्त्यै ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे दुरात्मन् वा दुष्ट ! तूने अपनी कुसंगतिसे अथवा अपने अज्ञानसे तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् अरहंतदेवकी निंदा की है वा उनका अनादर किया है, इसके लिए तुझे धिक्कार है । इसी प्रकार मोक्ष देनेवाले और अत्यंत शुद्ध ऐसे परमेष्ठीकी निंदा की है वा उनका अनादर किया है, इसके लिए भी तुझे धिक्कार है स्वर्ग मोक्षको देनेवाले जिनागमकी निंदा की है वा उसका अनादर किया है इसके लिए भी तुझे धिक्कार है और अनेक महापापोंका नाश करनेवाले जिनालयकी निंदा की है वा उसका अनादर किया है इसके लिए भी तुझे धिक्कार है । हे आत्मन् ! तूने इन सबकी निंदा वा अनादर करके महाकुटिल दोष वा महापाप किया है और वह महापाप अब उन्हींके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे शांत होगा। इसलिए हे आत्मन्! उन सब पापोंको शांत करनेके लिए वा नाश करनेके लिए उन्हींके चरण-कमलोंकी सेवा कर ।

भावार्थ—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं। ये पांचों परमेष्ठी तथा जिनागम जिनालय जिनप्रतिमा और जिनधर्म ये नौ देवता वा महादेवता कहलाते हैं। ये नौ देवता संसारका उद्धार करनेवाले हैं, मोक्षप्राप्तिके कारण हैं और इसलिए जगत्‌वंद्य हैं। इन्द्रादिक देव भी इनकी सदा सेवा किया करते हैं। इसलिए इनकी निंदा करनेसे वा इनका अनादर करनेसे महापाप उत्पन्न होता है। अशुभ वा पापरूप कर्मोंमें सबसे प्रबल पापकर्म दर्शनमोहनीय कर्म है, उस दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव इन्हीं देवताओंकी निंदा वा अनादर करनेसे होता है। इससे सिद्ध होता है कि इनकी निंदा वा अनादर करनेसे सबसे प्रबल महापाप उत्पन्न होता है, इसको वज्रपाप कहते हैं वा तीव्र मिथ्यात्व कहते हैं। यह पाप तीव्र नरक निगोदका कारण है। जिन जीवोंको आत्मज्ञान नहीं है अथवा आत्माके उत्कृष्ट गुणोंमें अनुराग नहीं है वही जीव इनका अनादर कर सकता है। जो जीव आत्माके गुणोंसे कुछ भी अनुराग रखता है वह कभी भी इनका अनादर नहीं कर सकता। इसलिए किसी भी जीवको इनका अनादर नहीं करना चाहिए। ये नौ देवता परम पूज्य हैं। इनकी पूजा करनेसे यह जीव मोक्षमार्गमें लग जाता है। मोक्षमार्गमें चलनेके लिए सबमें उत्तम उपाय यही है। अतएव हे आत्मन्! यदि तू पहलेके सब पापोंका नाश करना चाहता है और मोक्षके अनन्त सुख प्राप्त करना चाहता है तो इन नौ देवताओंके

चरण-कमलोंकी सेवा कर, इनकी पूजा कर, इनकी भक्ति कर और अपने हृदयमें इनके गुण धारण कर।

आगे जिनधर्म, जिनप्रतिमा और जिनवचनोंकी अमान्यताकी आलोचना करते हैं—

जिनेन्द्रधर्मप्रतिमादिकानां,
सम्पूर्णजन्तोः परितारकाणाम्।
श्रीवर्द्धिनां तद्वचसां कदाचि-
दमान्यता वाविनयः कृतश्चेत् ॥४८॥
त्वया ह्यभाग्येन महापराध-
स्तत्पापशान्त्यै हि पुनः पुनश्च।
कुर्वात्मनिन्दां प्रतिमादिपूजां,
यतस्तवात्मा च भवेत्प्रपूज्यः ॥४९॥

अर्थ—हे आत्मन्! जिनधर्म जिनप्रतिमा और जिनवचन ये तीनों ही इस संसारमें समस्त जीवोंको पारकर देनेवाले हैं और सब प्रकारकी लक्ष्मीको बढ़ानेवाले हैं। इसलिए हे आत्मन्! तूने अपने अशुभकर्मके उदयसे कदाचित् अमान्यता की हो अथवा अविनय किया हो तो समझ लेना चाहिए कि तूने यह महा अपराध किया है। उस पापको शान्त करनेके लिए तू बार-बार अपनी निंदा कर और जिनप्रतिमा जिनधर्म वा जिनवचनोंकी पूजा कर। ऐसा करनेसे ही यह तेरा आत्मा तीनों लोकोंमे पूज्य बन जायगा।

भावार्थ—इस संसारमें जिनधर्म सर्वोत्कृष्ट धर्म है, क्यों कि इस संसारमें यही एक धर्म अहिंसा व दयामय है। आत्माका सर्वोत्कृष्ट कल्याण इसी जिनवचनोंसे जाना जाता है। वर्तमानकालमें तीर्थंकरोंके साक्षात् दर्शन नहीं होते इसलिए उनके समान ही उनके वचनोंसे जीवोंका कल्याण होता है तथा जिनप्रतिमा साक्षात् तीर्थंकरके समान सुशोभित होती है। जिस प्रकार समवसरणमें श्रीतीर्थंकर परमदेव विराजमान होते हैं उसी प्रकार जिनालयमें श्रीतीर्थंकर परमदेवकी प्रतिमा विराजमान रहती है। दिव्यध्वनिके खिरनेके समयको छोडकर बाकीके समयमें भगवान् तीर्थंकर परमदेव जिस प्रकार समवसरणमें निश्चल पद्मासन विराजमान रहते हैं उसी प्रकार उनकी प्रतिमा भी निश्चल और पद्मासन विराजमान रहती है। इसलिए तीर्थंकरपरमदेव और उनकी प्रतिमामें कोई किसी प्रकारका अंतर नहीं माना जा सकता। आत्माके कल्याण करनेवाला जो उपदेश दिव्यध्वनिसे प्राप्त होता है। वही उपदेश उनके वचनोंसे वा शास्त्रोंसे प्राप्त होता है। इसलिए कहना चाहिए कि भगवान्‌की वचन वा जिन-शास्त्र भगवान्‌की दिव्यध्वनिके ही समान है। भगवान् गणधर देवोंने भगवान्‌की दिव्यध्वनिको समझ कर ही द्वादशांगरूप शास्त्रोंकी रचना की है। जो उनकी दिव्यध्व-निमें है वही सब शास्त्रोंमें है। इसलिए कहना चाहिए कि जो लोग शास्त्रोंको नहीं मानते हैं अथवा उसका कुछ भाग मानते हैं और कुछ भाग नहीं मानते वे भगवान् तीर्थंकर

परमदेवको ही नहीं मानते। जिनवचनोंकी अवज्ञा करना वा जिनप्रतिमाकी अवज्ञा करना भगवान् जिनेन्द्रदेवकी ही अवज्ञा करना है। इसलिए हे आत्मन्! यदि तूने किसी अशुभकर्मके उदयसे जिनप्रतिमा, जिनधर्म और जिनवचनोंकी निन्दा कर महा अपराध किया हो तो तू उस पापको शांत करनेके लिए बार-बार अपनी निन्दा कर और बार-बार उनकी पूजा कर। क्यों कि अपनी निन्दा और पश्चाताप करनेसे कर्मोंका विपाक कम हो जाता है तथा उनकी पूजा करनेसे अशुभकर्मोंका नाश होता है और शुभकर्मोंका बंध होता है तथा परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्ष प्राप्त होनेमें यह आत्मा जगत्पूज्य बन जाता है।

आगे श्रुतज्ञानकी निन्दाकी आलोचना दिखलाते हैं—

मिथ्यात्वहेतुः सुमतिश्रुतादि--
ज्ञानस्य चानन्दपदप्रदस्य।
हठाच्छठत्वात्कुमतिश्रुतादि--
वशात्कृतो वाऽविनयः प्रणिन्दा ॥५०॥

तद्दोषशान्त्यै कुमतिश्रुतादि-
ज्ञानञ्च मुक्त्वा भवदं भवाब्धौ।
गृहाण भक्त्या सुमतिश्रुतादि-
ज्ञानं यतः स्यात्सफलं नृजन्म ॥५१॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तूने अपने हठसे अथवा अपनी दुष्टतासे अथवा कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञानके वशीभूत होकर महापापरूप मिथ्यात्वका नाश करनेवाले और आनन्दपद वा मोक्षको देनेवाले सुमतिज्ञान वा श्रेष्ठ श्रुतज्ञानकी निन्दा की हो या इन दोनों ज्ञानोंका अविनय किया हो तो उस महादोषको दूर करनेके लिए तू इस संसाररूपी महासागरमें जन्म-मरणरूपी संसारको बढानेवाले कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञानका त्याग कर और भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाले श्रेष्ठ मतिज्ञान श्रुतज्ञानको धारण कर। ऐसा करनेसे ही तेरा यह मनुष्यजन्म सफल हो सकता है।

भावार्थ—श्रुतज्ञानकी निंदा करना वा उसका अविनय करना महापापका कारण है। क्यों कि जीवादिक पदार्थोंका स्वरूप श्रुतज्ञानसे ही जाना जाता है, पंचपरमेष्ठीका स्वरूप श्रुतज्ञानसे ही जाना जाता है, तीर्थंकर परमदेवका उपदेश श्रुतज्ञानसे ही जाना जाता है और आत्माका यथार्थ शुद्ध स्वरूप श्रुतज्ञानसे ही जाना जाता है। इस संसारमें जीवोंका कल्याण जितना श्रुतज्ञानसे होता है उतना और किसीसे नहीं होता। तीर्थंकरपरमदेव तो अपने जीवनतक ही जीवोंका कल्याण करते हैं परन्तु उनकी दिव्यध्वनिरूप श्रुतज्ञान अनन्तकालतक जीवोंका कल्याण करता रहता है। इस प्रकार सर्वोत्कृष्टरीतिसे अनन्तकाल तक अनन्त जीवोंका कल्याण करनेवाले श्रुतज्ञानका अविनय करना वा

उसकी निन्दा करना महापापका कारण है। जो लोग इस श्रुतज्ञानकी निन्दा करते हैं वे या तो हठसे करते हैं या अपनी दुष्टतासे करते हैं अथवा कुश्रुतज्ञानके चंगुलमें फंस जानेके कारण करते हैं। कुश्रुतज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला मिथ्यात्व गृहीतमिथ्यात्व कहलाता है तथा गृहीतमिथ्यात्व अनंत संसारका कारण कहलाता है। हे आत्मन्! यदि तू इस अनन्त संसारमें परिभ्रमण करनेसे बचना चाहता है तो सबसे पहले इस गृहीतमिथ्यात्व वा कुश्रुतज्ञानका त्याग कर, तुझे आज तक जो महादुःख प्राप्त हुए हैं वे सब इस कुश्रुत-ज्ञानसे ही हुए हैं। इसलिए अब तू सबसे पहले मिथ्यात्वका त्याग कर तथा सम्यग्दर्शनको धारण कर। सम्यग्दर्शन धारण करनेके अनन्तर श्रुतज्ञानका अभ्यास कर उसके द्वारा पंच परमेष्ठीका स्वरूप समझ अपने आत्माका स्वरूप समझ और मोक्ष वा मोक्षमार्गका स्वरूप समझ तथा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए रत्नत्रय धारण कर। ये सब काम इस मनुष्य जन्ममें ही हो सकते हैं क्यों कि हेय और उपादेय समझनेकी शक्ति मनुष्यपर्यायमें ही होती है तथा चारित्र धारण करने-की शक्ति मनुष्य जन्ममें ही होती है। इस प्रकार श्रुतज्ञानका अभ्यास करनेसे ही मनुष्य जन्मकी सफलता सिद्ध होती है। जो मनुष्यजन्म पाकर भी कुश्रुतज्ञानके अभ्यासमें लगा रहता है वह अपना अमूल्य मनुष्यजन्म व्यर्थ ही खो देता है। इसलिए श्रुतज्ञानका अभ्यास कर आत्मकल्याण अवश्य कर लेना चाहिए।

आगे किसीको दुःख पहुचानेकी आलोचना करते हैं—

मदाप्टढेन त्वया खलेन,
दीना दरिद्राः कुलहीनजीवाः ।
प्रपीडिताः कौ ह्यपमानिताश्च,
तेषां हठाद्वापहृता धनादिः ॥५२॥

तत्पापशान्त्यै विनयेन कार्यं,
दत्त्वा धनं तन्मनसश्च तोषम् ।
यतो मिथः स्यात्स्वमनः पवित्रं,
स्याद्वा चिरं वै कलहाग्निशांतिः ॥५३॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तूने अपनी दुष्टतासे अथवा धन, कुल, विद्या, राज्य, वैभव आदिसे उत्पन्न होनेवाली उन्मत्तताके कारण किसी दीन दरिद्री जीवको दुःख दिया हो अथवा किसी नीच कुलके लोगोंको दुःख दिया हो अथवा इस ससारमें किसीका अपमान किया हो वा हठ पूर्वक किसीका धन हरण कर लिया हो वा और कुछ हरण कर लिया हो तो उस पापको शांत करनेके लिए तू विनय पूर्वक उनको धन दे और इस प्रकार उनके मनको सतुष्ट कर । ऐसा करनेसे तुम दोनोंका मन पवित्र होगा और तुम दोनोंमें होनेवाली कलहरूपी अग्नि बहुत शीघ्र शांत हो जायगी ।

भावार्थ--किसीको अपने ज्ञानका मद होता है, किसीको अपने बड़प्पनका मद होता है, किसीको अपने कुलका मद होता है, किसीको अपनी जातिका मद होता है, किसीको बलका मद होता है, किसीको अपनी विभूतिका मद होता है, किसीको तपका मद होता है और अपने शरीरकी सुन्दरताका मद होता है। इनमेंसे किसी मदमें उन्मत्त होकर यह जीव जब किसीको दुःख पहुंचाता है वा किसीका धनादिक छीन लेता है तब जिसका धन छीना गया है वा जिसको दुःख पहुंचा है उसके परिणाम बहुत ही संक्लेशरूप होते हैं। वह हीनशक्ति होनेके कारण कुछ कर नहीं सकता तथापि संक्लेशरूप परिणाम होनेसे वह अशुभकर्मोंका बंध करता है। साथमें उसके परिणामोंमें धन छीननेवालेके साथ विरोध करनेका तीव्र संस्कार बैठ जाता है जिसके कारण वह भवान्तरमें उसको तीव्र दुःख पहुंचाता है तथा वह विरोधका संस्कार कितने ही जन्मों तक रहता है। वह संस्कार अगले जन्मों तक न जाय इसका एकमात्र उपाय यही है कि जिसको दुःख पहुंचाया है वा जिसका धन छीना है उसको किसी न किसी तरह संतुष्ट करना चाहिए, उसका विनय करना चाहिए तथा उसका दुःख दूर करना चाहिए और उसको धनादिक देकर सब प्रकारसे संतुष्ट करना चाहिए। ऐसा करनेसे उसके परिणामोंमें जो विरोधका तीव्र संस्कार जमा रहता है वह निकल जाता है और इस प्रकार दोनोंका विरोध सदाके लिए मिट जाता है। विरोधके

पिट जानेसे दोनोंका मन पवित्र हो जाता है तथा मनके पवित्र होनेसे फिर वे दोनों जीव धर्म-ध्यानमें लग जाते हैं और धीरे धीरे मोक्षमार्गमें चलते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए हे आत्मन् ! तू भी ऐसा ही कर।

आगे किसी मुनिराजकी निन्दा वा अविनय करनेकी आलोचना करते हैं—

महाव्रती स्वात्मरतो दयालुः,
स्वात्मानुरागी च भवाद्विरागः।
त्रिरत्नधारी च महातपस्वी,
क्षमाकरोऽकारणबंधुरेव ॥५४॥

एतादृशः साधुरपीह चास्ति,
तस्य प्रमादाद्भवरोगहर्तुः।
यदि प्रणिन्दाऽविनयः कृतश्चेत्,
तत्पापशांत्यै नमतात् त्रिशुद्ध्या ॥५५॥

अर्थ-इस असार संसारमें वीतराग निर्ग्रंथ साधु महाव्रती होते हैं, अपनी आत्मामें लीन रहते हैं, जीवोंपर दया धारण करते हैं, केवल अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही अनुराग रखते हैं, इस असार संसारसे विरक्त रहते हैं, रत्नत्रयको धारण करते

हैं, घोर तपश्चरण करते रहते हैं. क्षमाकी खानि होते हैं, विना कारण ही सब जीवोंका कल्याण करनेवाले बंधु होते हैं और संसारके जन्ममरणरूप रोगका नाश करनेवाले होते हैं। हे आत्मन्! यदि ऐसे साधुओंकी भी तूने अपने प्रमादके कारण निंदा की हो वा उनका अविनय किया हो तो उस पापको शांत करनेके लिए तू अपने मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक उनको नमस्कार कर।

भावार्थ—इस संसारमें जितने जीव हैं वे सब अपने अपने स्वार्थमें लगे हुए हैं। कुटुंबी लोग जिससे स्वार्थ सिद्ध होता दिखाई देता है उसीकी सेवा करते हैं, जिससे अपना स्वार्थ बंद हो जाता है फिर उससे बात तक नहीं करते। ऐसे इस स्वार्थपूर्ण संसारमें एक निर्ग्रंथसाधु ही समस्त जीवोंके वीना कारण बंधु होते हैं। वे साधु वीतराग और निस्पृह होनेके कारण किसी भी पदार्थकी वांच्छा नहीं करते। यहां तक कि भिक्षावृत्ति धारण करते हुए भी किसीसे आहारकी भी वांच्छा नहीं करते। आहार भी जहां शुद्धतापूर्वक मिल जाता है वहींपर जो मिलता है उसे ग्रहण कर लेते हैं तथा उस आहारके सहारे घोर तपश्चरण करते हुए अपने आत्माका तथा अन्यजीवोंका कल्याण करते रहते हैं। ऐसे मुनियोंकी निंदा करना वा उनका अविनय करना महापापका कारण है तथा वह महापाप उन्हींकी पूजा वंदनासे दूर हो सकता है। यद्यपि वे साधु अपनी निंदा वा अपने अविनयसे किसीसे द्वेष नहीं करते और न पूजा वंदना

करनेवालेसे अनुराग रखते हैं। वे तो वीतराग होनेके कारण दोनोंको समान समझते हैं और समय पड़नेपर दोनोंको समान कल्याणकारी उपदेश देते हैं तथापि जिस प्रकार दर्पणके सामने अच्छा बुरा जैसा पदार्थ रक्खा जाता है वैसा ही पदार्थ उसमें दिखाई पड़ता है उसी प्रकार दर्पणके समान निर्मल आत्माको धारण करनेवाले साधुओंके साथ जैसा व्यवहार किया जाता है वैसा ही अच्छा वा बुरा उसका फल मिलता है यह स्वाभाविक बात है। इसलिए वीतराग साधुओंकी निंदा वा अविनय कभी नहीं करना चाहिए। हे आत्मन्! यदि तूने ऐसे साधुओंकी निंदा की हो वा उनका अविनय किया हो तो तू उसका पश्चात्ताप कर, तथा उस पापको नाश करनेके लिए तू उनके चरणकमलोंकी पूजा कर। ऐसा करनेसे तेरा आत्मा पवित्र होगा और रत्नत्रयकी प्राप्ति होगी और शीघ्र ही मोक्षरूप अनंतसुखकी प्राप्ति हो जायगी।

आगे उत्तम मध्यम जघन्य श्रावकोंकी निंदा करनेकी आलोचना कहते हैं।

देशव्रती शीलशिखामणिश्च,
धर्मानुरागी ह्यसुरक्षकश्च।
पूजासुदानव्रतमौनधारी,
सन्तोपकारी स्वपरोपकारी ॥५६॥

पूर्वोक्तधर्मेण युताः सुश्राद्धाः,
सन्त्यत्र तेषां हि कृता कदाचित् ।
निंदा कुरु त्वं विनयादिसेवां
यतस्तवात्मेति सुखी कृती स्यात् ॥५७॥

अर्थ—भगवान् जिनेंद्रदेव के कहे हुए एकदेश चारित्रको धारण करनेवाले श्रावक कहलाते हैं, वे श्रावक अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंको पालन करते हैं शीलपालन करनेमें सर्वोत्कृष्ट होते हैं, रत्नत्रयरूप धर्ममें अनुराग रखते हैं, समस्त जीवोंके प्राणोंकी रक्षा करते हैं, प्रतिदिन भगवान् जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं, प्रतिदिन पात्रदान देते हैं, प्रतिदिन व्रत पालन करते हैं और प्रतिदिन शास्त्रोक्त कार्योंमें मौन धारण करते हैं। इसके सिवाय वे श्रावक सबको संतुष्ट रखते हैं, अपने आत्माका कल्याण करते रहते हैं और अन्य जीवोंका कल्याण करते रहते हैं। इन समस्त धर्मोंको पालन करनेवाले जितने श्रावक इस संसारमें हैं उनकी वा उनमेंसे किसीकी तूने कदाचित् निंदा की हो तो हे आत्मन्! अब तू उनकी सेवा कर जिससे कि तेरा आत्मा कृतार्थ और सुखी हो जाय।

भावार्थ—श्रावकोंके तीन भेद हैं प्रारब्ध, घटमान और नैष्ठिक। जो मूलगुण पालन करते हैं उनको प्रारब्ध कहते हैं। जो अभ्यासरूपसे बारह व्रतोंको पालन करते हैं उनको

वर्तमान कहते हैं और जो ग्यारह प्रतिमाओंको पालन करते हैं उनको नैष्ठिक कहते हैं। नैष्ठिक श्रावक तीन प्रकारके होते हैं उत्तम, मध्यम और जघन्य। पहली प्रतिमासे लेकर छठी प्रतिमा तक पालन करनेवाले श्रावक जघन्य नैष्ठिकश्रावक कहलाते हैं, जो सात आठ नौ प्रतिमाओंको पालन करते हैं उन्हें मध्यमनैष्ठिकश्रावक कहते हैं और जो दशवीं या ग्यारहवीं प्रतिमाओंको पालन करते हैं उनको उत्तमनैष्ठिकश्रावक कहते हैं। ये सब श्रावक सुपात्रदान और जिनपूजन करनेमें सदा तत्पर रहते हैं। छठी प्रतिमा तकके श्रावक न्यायपूर्वक धन कमाते हैं, पापोंसे सदा डरते रहते हैं, धर्मका कभी घात नहीं करते, धर्मसाधन करनेके श्रेष्ठ स्थानोंमें रहते हैं, अपने योग्य आहार विहार करते हैं, सज्जन धर्मात्मा पुरुषोंकी संगतिमें रहते हैं। ऐसे श्रावक जिनधर्मके प्राण व रक्षक कहलाते हैं। विना ऐसे श्रावकोंके मुनिमार्गका चलना भी असंभव हो जाता है क्यों कि मुनियोंके शरीरकी स्थिति श्रावकोंके ही आश्रित है। इसलिए ऐसे धर्मात्मा श्रावकोंका अविनय करना अथवा उनकी निंदा करना महापापका कारण है। हे आत्मन्! यदि तूने ऐसे श्रावकोंकी निंदा की हो वा उनका अविनय किया हो तो तू उसका पश्चात्ताप कर उनसे क्षमा मांग और उनकी सेवा सुश्रूषा कर। ऐसा करनेसे तेरे पाप शांत होंगे, तेरा आत्मा सुखी होगा और कृतार्थ समझा जायगा तथा आत्मामें सरलता आजानेसे परंपरासे मोक्ष प्राप्त कर अनंतसुखी हो सकेगा।

आगे चारों गतियोंके प्राणियोंको दुःख देनेकी आलो- चना करते हैं—

चतुर्भवे दुःखमये विचित्रे ।
विपत्प्रकीर्णे भ्रमता त्वयैव ॥
देवा प्रलोभान्मनुजाश्च मानाद् ।
भयंकरान्नारकिनः प्रकोपात् ॥ ५८ ॥

हा मायया वा पशवो ह्यदोपा ।
विदारिताः प्राणहृताश्च दग्धाः ॥
तत्पापशांत्यै कुरु तान् स्वकीयान् ।
नश्येत्प्रकोपोऽपि यतश्च तेषाम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—चारों गतियोंके भेदसे यह संसार चार प्रकारका है। यह चारों प्रकारका संसार अत्यंत दुःखमय है, अत्यंत विचित्र है और अनेक प्रकारकी विपत्तियोंसे भरा हुआ है। इसमें तीव्र लोभके कारण देवगति प्राप्त होती है, मान कषायकी तीव्रतासे मनुष्यगति प्राप्त होती है, क्रोधकी तीव्रतासे नरकगति प्राप्त होती और मायाचारी करनेसे तिर्यंचगति प्राप्त होती है। हे आत्मन्! तूने भी इन चारों गतियोंरूप संसारमें सदाकालसे परिभ्रमण किया है और इन चारों कषायोंके निमित्तसे ही परिभ्रमण किया है। इस प्रकार परिभ्रमण

करते हुए तूने यदि कोई पशु वा मनुष्य विदीर्ण किया हो वा जलाया हो अथवा किसीके प्राण हरण किए हों तो तू उन सब पापोंको शांत करनेके लिए उन सबको अपना बना। क्यों कि ऐसा करनेसे उन सबका क्रोध शांत वा नष्ट हो जायगा।

भावार्थ—गति भी चार है और कषाय भी चार हैं। जिस प्रकार धन इकट्ठा करनेका लोभ होता है उसी प्रकार जिनपूजन वा सुपात्रदान देकर अधिक पुण्योपार्जन करनेका भी लोभ होता है। ऐसे पुण्योपार्जन करनेके लोभसे यह जीव उत्तमदेव होता है तथा धनादिकके लोभसे नीच देव होता है। इसी प्रकार मैं उत्तमश्रावक हूं, श्रावक होकर मुझे पापकार्य वा निंद्य कार्य नहीं करने चाहिए। पापकार्य वा निंद्य कार्य करना नीच लोगोंका काम है, इस प्रकारके स्वात्माभिमानसे उत्तममनुष्य होता है तथा अभिमान करनेसे साधारण वा नीच मनुष्य होता है। मायाचारी करनेसे पशु होता है और क्रोधकषायसे नारकी होता है। इस प्रकार क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायोंमें परिभ्रमण करता है। हे आत्मन्! तूने भी इन चारों गतियोंमें परिभ्रमण किया है और कर रहा है। हे आत्मन्! यदि तूने इन जीवोंमेंसे किसी जीवको सताया हो, दुःख दिया हो, विदीर्ण किया हो वा जलाया हो वा किसीकी इंद्रियां नष्ट की हों वा किसीके प्राण हरण किए हों तो तू उनसे क्षमा मांग, अपने हृदयमें पश्चात्ताप कर और जिस प्रकार हो सके उस प्रकार

उसके क्रोधको शांत कर ऐसा करनेसे तेरा आत्मा पवित्र हो जायगा तथा आत्मा और मनके पवित्र होनेसे पापकर्मोंका नाश होगा और पुण्यकर्मका बंध होगा तथा समयानुसार रत्नत्रयकी प्राप्ति होकर अनंत सुखकी प्राप्ति होगी।

आगे अन्य कुकर्म करनेकी आलोचना करते हैं—

संसारसंतापविवर्द्धकानां ।
भूत्वा वशं क्रोधचतुष्टयानां
हेयं प्रणिन्द्यं कृतवान् कुकर्म्म ।
तथान्यलोके विषमं व्यथादम् ॥ ६० ॥

तत्पापशांत्यै च कषायकाण्डं ।
त्यक्त्वा तथा मोहपिशाचसंगम् ॥
स्वानंदसिंधौ च रमस्व चात्मन् ।
यतः प्रिया स्यात्तव मोक्षलक्ष्मीः ॥ ६१ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें जन्म-मरणरूप संसारको बढानेवाली हैं। इन्हीं चारों कषायोंके वशीभूत होकर तूने सर्वथा त्याग करने योग्य अत्यन्त निन्दनीय और परलोकमें भी विषम दुःख देनेवाले कुकर्म किए हैं। हे आत्मन्! अब तू उन पापोंको नाश करनेके लिए चारों कषायोंका त्याग कर तथा मोहरूपी पिशा-

वश। त्याग कर और आत्मजन्य अनुपम आनन्दके समुद्रमें क्रीडा कर। हे आत्मन्! ऐसा करनेसे ही मोक्षरूपी लक्ष्मी तुझसे अनुराग करने लगेगी।

भावार्थ—हे आत्मन्! क्रोधके निमित्तसे तूने न जाने कितने जीवोंका घात किया है, न जाने कितने जीवोंका धन हरण किया है, न जाने कितने जीवोंको दुःख पहुंचाया है वा चोट पहुंचाई है और न जाने कितने जीवोंको स्थानभ्रष्ट किया है। मान कषायके निमित्तसे न जाने कितने गरीबोंको सताया है और न जाने कितने पूज्य पुरुषोंका अनादर किया है। मायाचारी करके न जाने कितने घर नष्ट किए हैं, न जाने कितनी स्त्रियोंका शील हरण किया है, न जाने कितने जीवोंको घोर आपत्तिमें फंसा दिया है और न जाने कितने जीवोंका सर्वस्व हरण कर लिया है। इसी प्रकार लोभ कषायके निमित्तसे न जाने कितने निंदनीय कार्य किए हैं, न जाने कितने धर्मकार्योंमें परिवर्तन किया है और न जाने कितने धर्मात्माओंको धर्म करनेसे रोका है। इस लोभके ही निमित्तसे दान सुपात्रदान नहीं दिया और न कभी जिनपूजन की। कहांतक कहा जाय इस लोभके ही कारण आजतक मन्दिरप्रतिष्ठा, रथयात्रा आदि कोई भी पुण्यकार्य नहीं किया। हे आत्मन्! इन्हीं सब कारणोंसे तू आजतक चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता रहा है। हे आत्मन्! अब तू यदि अपने आत्माका कल्याण करना चाहता है तो इन चारों कषायोंका त्याग कर तथा कषायोंको उत्पन्न करनेवाले मोहका सर्वथा

त्याग कर और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें क्रीडा कर। हे आत्मन्! ऐसा करनेसे ही मोक्षरूपी लक्ष्मी तुझपर प्रसन्न होगी और सदाकाल रहनेवाला अनन्त सुख देगी।

आगे किसीका यश धन वा अन्नपानके हरण करनेकी आलोचना करते हैं—

निर्दोषजन्तोरपि दुष्टबुद्ध्या।
त्वयात्महंत्राऽखिलपापकर्त्रा॥
वस्त्रान्नवस्तूनि यशोधनानि।
गजाश्वहर्म्याणि विभूषणानि॥ ६२॥

सुनिर्दयाद्वापहृतानि यस्मात्।
तत्पापशांत्यै वसनं च दत्वा॥
कुरुष्व तेषां हृदि वात्मशांतिं।
यतस्तवात्मेति भवेद्वरिष्ठः॥ ६३॥

अर्थ—हे आत्मन्! तीव्र कषायोंके द्वारा अपने आत्माका घात करनेवाले और सब प्रकारके पाप करनेवाले तूने अपनी दुष्ट बुद्धिसे निर्दय होकर निर्दोषजीवोंके अन्न, पान, वस्त्र, यश, धन, हाथी घोडे, मकान और आभूषण आदि हरण किए हैं। इसलिए हे आत्मन्! उन पापोंको शांत करनेके लिए वस्त्रादिक देकर उनके हृदयको अत्यन्त शांत कर। हे आत्मन्! ऐसा करनेसे ही तेरा यह आत्मा सर्वोत्कृष्ट हो जायगा।

भावार्थ—कषायोंके निमित्तसे यह आत्मा दूसरोंके पदार्थोंको हरण कर लेता है। जिस समय यह आत्मा किसीका कुछ अपहरण करनेके लिए तीव्र कषाय उत्पन्न करता है उस समय यह उस कषायसे अपने आत्माका घात करता है। दूसरेके धनादिकका अपहरण हो वा न हो परन्तु कषाय उत्पन्न होनेसे उसकी आत्माका घात अवश्य हो जाता है। तथा आत्मघात करना सबसे बड़ा पाप कहलाता है। हे आत्मन! यदि तू इस महापापसे बचना चाहता है तो अपने आत्मामें कभी कषाय उत्पन्न न होने दे। अपने आत्मामें कषाय उत्पन्न न होनेसे फिर दूसरोंके धनादिकके अपहरण करनेके परिणाम नहीं होंगे और इस प्रकार यह आत्मा सब पापोंसे बच जायगा। तथा हे आत्मन! अब तक जो तूने अनेक निर्दोष प्राणियोंका धनादिक अपहरण किया है उसके लिए पश्चात्ताप कर उनसे क्षमा मांग और उनको सब तरहसे सन्तुष्ट कर। इस प्रकार पापोंके नष्ट होनेसे और आत्मामें निर्मलता हो जानेसे यह आत्मा उत्कृष्ट और प्रशंसनीय हो जाता है।

आगे आरम्भादिकसे होनेवाले एकसौ आठ पापोंकी आलोचना करते हैं।

पंचसूनाक्रियाया वा कृष्यादिवृत्तियोगतः।
संरंभादिकषायाद्वा कायकृतादिभेदतः॥६४॥
अष्टोत्तरशतं पापं प्रतिनित्यं प्रजायते।
तत्प्रक्षालनार्थं हि भक्त्या देवार्चनादिकम्॥६५॥

अष्टोत्तरशतं जाप्यं सत्प्रातिक्रमणादिकम् ।
निजात्मचिन्तनं नित्यं क्रियते धर्मद्योतनम् ॥६६

अर्थ—इस संसारमें प्रत्येक गृहस्थके घर चक्की पीसी जाती है, उखलीमें धान्य कूटा जाता है, चूल्हा जलाना पडता है, बुहारी देनी पडती है और पानी भरा जाता है। इन सब कामोंमें थोडी बहुत हिंसा अवश्य होती है इसीलिये इनको पंचसून वा पंचपाप कहते हैं। इसके सिवाय प्रत्येक गृहस्थके घर कमाने खानेके लिए जीविका करनी पडती है। उसके लिए या तो खेती की जाती है या व्यापार किया जाता है अथवा देशकी रक्षाके लिए सेनामें रहा जाता है वा किसीकी मुनीमी करनी पडती है वा किसीकी सेवा करनी पडती है अथवा कोई कारीगरीका काम करना पडता है। इस प्रकार आजीविकाके लिए इन छह कार्योंमेंसे कोई भी कार्य करना पडता है। इन कार्योंको कोई क्रोधसे करता है, कोई मानसे करता है, कोई मायासे करता है और कोई लोभसे करता है। तथा कोई स्वयं करता है कोई कराता है और कोई अनुमोदना करता है। कोई मनसे करता कराता है कोई वचनसे करता कराता है और कोई कायसे करता कराता है। कोई संरंभरूप हो करता है, कोई समारंभरूप करता है और कोई आरंभरूप करता है वा कोई संरंभ समारंभ आरंभ तीनों रूप करता है। इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थाको प्रतिदिन इन सबसे होनेवाले एक सौ आठ प्रकारके

पाप अवश्य लगते हैं। इन सब पापोंको नाश करनेके लिए प्रतिदिन देव-पूजा करनी चाहिये, अपने आत्माका चितवन करना चाहिये, धर्मका उद्योत करना चाहिये और एक सौ आठ बार भगवान् अरहतदेवका जप करना चाहिये।

भावार्थ—किसी कार्यको करनेके लिये चिंतवन करना संरंभ कहलाता है, उसकी करण सामग्री इकट्ठी करना समारंभ कहलाता है और उस कार्यको प्रारभ करना आरंभ कहलाता है। ये तीनों क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायोंसे मन वचन कायके द्वारा स्वयं किये जाते हैं कराये जाते हैं और उनकी अनुमोदना की जाती है। इस प्रकार इसके सब भेद एकसौ आठ हो जाते हैं और नीचे लिखे अनुसार स्पष्ट रीतिसे समझमें आजाते हैं।

क्रोध	मान	माया	लोभ
१	२	३	४
कृत	कारित	अनुमोदना	
०	४	८	
काययोग	वचनयोग	मनयोग	
०	१२	२४	
संरंभ	समारंभ	आरंभ	
०	३६	७२	

संरभ समारभ आरभका लक्षण ऊपर लिख चुके हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं, कृत स्वयं करनेको कहते हैं, कारित करानेको काहते हैं और अनुमोदना भला

माननें वा सम्मति देनेको कहते हैं। शरीरसे करनेको काय-योग कहते हैं, वचनसे कहनेको वचनयोग कहते हैं और मनसे करनेको मनोयोग कहते हैं। अब इनके एकसौ आठ भेद दिखलाते हैं। क्रोधकृतकायसंरंभ, १ मानकृतकायसंरंभ २ मायाकृतकायसंरंभ ३ लोभकृतकायसंरंभ ४ अर्थात् क्रोध मन माया वा लोभसे शरीरसे स्वयं किया हुआ संरंभ तथा क्रोधकारित कायसंरंभ ५, मानकारित कायसंरंभ ६, माया-कारित कायसंरंभ ७, लोभकारित कायसंरंभ ८ अर्थात् क्रोध मान, माया, लोभसे शरीरके द्वारा कराया हुआ संरंभ तथा क्रोधानुमतकायसंरंभ ९, मानानुमनकायसंरंभ १०, माया-नुमत कायसंरंभ ११, लोभानुमत कायसंरभ १२। अर्थात् क्रोध मान माया लोभसे शरीरके द्वारा अनुमोदना किया हुआ संरंभ। इस प्रकार शरीरसे होनेवाले संरंभके बारह भेद होते हैं। इसी प्रकार वचनसे होनेवाले संरंभके भी बारह भेद होते हैं यथा क्रोधकृतवचनसंरंभ, मानकृतवचन संरंभ मायाकृतवचनसंरंभ, लोभकृतवचनसंरंभ. क्रोधकारि-तवचनसंरंभ, मानकारितवचनसंरंभ, मायाकारितवचनसंरंभ, लोभकारितवचनसंरंभ। क्रोधअनुमतवचनसंरंभ, मानानुमत-वचनसंरंभ, मायानुमतवचनसंरंभ, लोभानुमतवचनसंरंभ। आगे मनसे होनेवाले बारह प्रकारके संरंभको बतलाते हैं। क्रोधकृतमनःसंरंभ, मानकृतमनःसंरंभ, मायाकृतमनःसंरंभ लोभकृतमनःसंरंभ, क्रोधकारितमनःसंरंभ, मानकारितमनःसंरंभ मायाकारितमनःसंरंभ, लोभकारितमनःसंरंभ, क्रोधानुमतमनः

संरंभ मानानुमतमनःसंरंभ मायानुमतमनःसंरंभ और लोभानुमतमनःसंरंभ। इस प्रकार शरीरसे बारह प्रकारका संरंभ होता है, वचनसे बारह प्रकारका संरंभ होता है और मनसे बारह प्रकारका संरंभ होता है। इस प्रकार संरंभके छत्तीस भेद होते हैं। इसी प्रकार समारंभके छत्तीस भेद होते हैं और आरंभके भी छत्तीस भेद होते हैं। सब मिलकर एकसौ आठ भेद होते हैं। इनमेंसे यदि बीचकी संख्या निकालनी हो तो कोष्ठकमें दिये हुए अंकोंको जोड लेना चाहिए जहां दो वा तीनमें संख्या मिल जाय तो शेष शून्य संख्याका कोष्ठक समझना चाहिए। जैसे किसीने पूछा कि बत्तीसवीं संख्या कौनसी है तो पहली पंक्तिका चार दूसरी पंक्तिका चार और तीसरी पंक्तिका चौवीस मिलकर बत्तीस हो जाते हैं इसलिए शेषकी पंक्तिकी शून्यसंख्या समझनी चाहिए और इस प्रकार लोभ कारितमनःसरम्भ नामका बत्तीसवां भेद होता है। इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि मायाकारित मनःसमारम्भ नामका कौनसा भेद है तो इन नामोंकी तीन, चार, चौवीस और छतीस संख्या जोड लेनेसे सदसठ संख्या होती है। इसलिए मायाकारितमनःसमारम्भ नामका भेद सदसठवां समझना चाहिए। इसी प्रकार संख्यासे नाम और नामसे संख्या निकाल लेनी चाहिए। ये एकसौ आठ पाप आनेके साधन हैं, इनके द्वारा प्रतिदिन न जाने कितनीवार पाप आते रहते हैं। इसलिए ही आचार्योंने इन समस्त पापोंको शांत करनेके लिए एकसौ आठ दानेकी माला जपनेका उप-

देश दिया है। यह माला प्रतिदिन तीन बार जपनी चाहिये। यदि कदाचित् तीनबार न जप सके तो प्रातःकाल और सायंकाल दोबार तो गृहस्थोंको अवश्य जपनी चाहिए। जपमें पंच परमेष्ठीका नाम होना चाहिए। पंच नमस्कार मंत्रका जप करना सर्वोत्कृष्ट है तथा इसका माहात्म्य भी सर्वोत्कृष्ट है। इसके सिवाय दोनो समय अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करना चाहिए, प्रतिदिन दोनों समय प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्रदेवका पूजन करना चाहिए और रथोत्सव वा बिम्बप्रतिष्ठा आदिके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे पहलेके पाप सब नष्ट हो जाते हैं और आगेके लिए स्वर्गादिक सुखोंकी प्राप्ति होती है तथा परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आगे कुगुरु तथा कुशास्त्रकी स्तुति प्रशंसाकी आलोचना करते हैं—

सरागमूर्तेः कुगुरोः कुनीतेः,
स्तुतिः प्रशंसा गुरुदेवबुद्धया।
त्वया प्रलोभाद्धि नतिः कृता चेत्
तवात्मशुद्ध्यै कुरु तद्वियोगम् ॥६७॥

जिनोक्तशास्त्रस्य गुरोः कृपाब्धेः,
संयोगमेवं कुरु चित्तशुद्धया।
अन्वेषणीय च यथार्थवस्तु,
मोक्षो यतः प्राप्य भवेन्नृजन्म ॥६८॥

अर्थ—हे आत्मन्! यदि तूने गुरु समझकर रागद्वेषको धारण करनेवाले कुगुरुओंकी स्तुति की हो वा उनकी प्रशंसा की हो अथवा किसी लोभके कारण उनको नमस्कार किया हो अथवा कुनीतिको कहनेवाले कुशास्त्रकी स्तुति की हो वा प्रशंसा की हो वा किसी लोभसे उसको नमस्कार किया हो तो हे आत्मन्! तू अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये उनका त्याग कर तथा अपने हृदयकी शुद्धतापूर्वक भगवान् जिनेन्द्र-देवके कहे हुए शास्त्रोंका पठन-पाठन कर और कृपाके सागर ऐसे निर्ग्रंथ गुरुको मान। हे आत्मन्! तू सदा यथार्थ देव शास्त्र गुरुका अन्वेषण कर जिससे कि मनुष्यजन्म प्राप्त होकर तुझे शीघ्र ही मोक्षकी प्राप्ति हो।

भावार्थ—हे आत्मन! देख इस संसारमें कुगुरु और कुशास्त्रका सम्बन्ध महादुःख देनेवाला है। नरकादिकके दुःख कुगुरु और कुशास्त्रोंके ही सम्बन्धसे मिलते हैं। राग द्वेषको धारण करनेवाले, सब तरहके आरम्भ करनेवाले वा खेती वाडी करनेवाले अथवा कुटी बनाकर रहनेवाले, चरस भांग गांजा आदि पीनेवाले जितने साधु हैं वे सब कुगुरु कहलाते हैं। ऐसे कुगुरु पत्थरकी नाव होते हैं, जो स्वयं डूबते हैं और अपने शिष्योंको ले डूबते हैं। इसी प्रकार कुशास्त्र वा मिथ्या शास्त्र इनसे भी अधिक पाप उत्पन्न कराते रहते हैं। अनन्त संसारमें परिभ्रमण करानेवाला गृहीतमिथ्यात्व कुशास्त्रोंके पठन पाठनसे वा सुननेसे ही होता है। ये दोनों ही इस जीवको नरकादिकके दुःख देनेवाले हैं। इसलिए हे आत्मन्!

यदि तू अपने आत्माका कल्याण करना चाहता है तो सबसे पहले इनका त्याग कर। विना इनका त्याग किए तेरे आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता। जो साधु वीतराग हों किसी प्रकारका परिग्रह न रखते हों, किसी प्रकारका आरम्भ, न करते हों और जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा, लालसा आदि सब प्रकारके विकारोंसे रहित हों ऐसे गुरु स्वयं पार होते हैं और शिष्योंको भी पार कर देते हैं। इसी प्रकार वीतराग और सर्वज्ञदेवका कहा हुआ शास्त्र ही यथार्थ शास्त्र हो सकता है। इस संसारमें जो वीतराग होता है वही पक्षपातरहित होता है तथा वही यथार्थ उपदेश दे सकता है तथा सर्वज्ञ होनेसे वह स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंका वा दूरवर्ती पदार्थोंको भी यथार्थरीतिसे निरूपण कर सकता है। जो वीतराग और सर्वज्ञ है उसके लिए मिथ्या उपदेश देनेका कोई कारण ही नहीं है। जो सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् जो समस्त पदार्थोंको नहीं जानता है वही सूक्ष्म वा दूरवर्ती पदार्थोंको यथार्थरीतिसे नहीं कह सकता अथवा जो वीतराग नहीं होता, राग द्वेष धारण करता है वह भी किसी पक्षपातके वशीभूत होकर मिथ्याभाषण कर सकता है। भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ भी हैं और वीतराग भी हैं इसलिए उनके कहे हुए शास्त्रोंमें कभी कोई बात मिथ्या नहीं हो सकती अत एव आत्माका कल्याण करनेके लिए हे आत्मन्! तुझे भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंकी ही शरण लेनी चाहिए, उन्हींका पठन–पाठन करना चाहिए। वर्तमान सम-

यमें इस जैनधर्मको धारण करनेवाले कितने ही विद्वान् जो विजातीयविवाह वा स्पर्शास्पर्श लोप अथवा विधवाविवाहको मानते हैं वह सब कुशास्त्रोंके पठन-पाठन करनेका फल है। ऐसे पुरुषोंके लिखे हुए ग्रंथ अथवा कहा हुआ उपदेश कभी मान्य नहीं हो सकता। इसलिए हे आत्मन्! तू भी आपना कल्याण करनेके लिए भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोंका तथा निर्ग्रंथ गुरुओंका शरण ले। इसीसे तू संसाररूपी समुद्रसे पार हो जायगा।

आगे प्रातःकालके चिंतवनको कहते हैं—

बंधुश्च मे कोऽस्त्यहमेव तस्य।
को कोऽस्मि धर्मोऽपि मम प्रदेशः॥
कीदृग् हि कृत्यं करणीयमस्ति।
तथा परेषां हितचिंतनं वा॥ ६९॥
एवं विचारः सुखदश्च कार्यः।
प्रातस्त्वयोत्थाय च चित्तशुद्ध्या॥
यतः स्वयं त्वं हि भवेः पवित्रः।
आबालवृद्धस्य सुखप्रचारी॥ ७०॥

हे आत्मन्! यदि तू अपने आत्माको पवित्र करना चाहता है और बालक वृद्ध युवा सबको सुख पहुचाना चाहता है तो प्रातःकाल उठकर ही अपने चित्तकी शुद्धता पूर्वक सुख देनेवाला इस प्रकारका विचार वा चिन्तवन कर

कि इस संसारमें मैं कौन हूं, मेरा हित करनेवाला बन्धु कौन है, मेरा धर्म क्या है, मेरे आत्माके प्रदेश कैसे हैं, मुझे क्या क्या कार्य करने चाहिए और अन्य जीवोंका हित किस प्रकार हो सकता है।

भावार्थ—प्रातःकाल जो चिंतवन किया जाता है वह दिनभर बना रहता है। इसलिए हे आत्मन्! तू भी प्रातःकाल उठकर प्रतिदिन यही चिन्तवन कर कि मैं कौन हूं अर्थात् मैंने किस पर्यायमें जन्म लिया है, पहले किन किन पर्यायोंमें परिभ्रमण किया है, किस पुण्यकर्मके उदयसे मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न हुआ हूं? इस पर्यायमें मेरे आत्माका कल्याण करनेवाला बंधु कौन है? क्या कुटुंबी लोगोंसे मेरे आत्माका कल्याण हो सकता है? मेरे आत्माका स्वभाव वा धर्म क्या है, क्या मैं अपने आत्माके धर्मके अनुसार चलता हूं? अथवा उसके विपरीत चलता हूं? मेरे आत्माके प्रदेश मलिन हैं अथवा निर्मल हैं? यदि मलिन है तो उन्हें किस प्रकार निर्मल करना चाहिये ऐसे कौनसे कार्य करने चाहिये जिनसे यह मेरा आत्मा निर्मल हो जाय तथा इस मेरे आत्मासे किस प्रकार अन्यजीवोंका कल्याण हो सकता है। हे आत्मन्! यदि तू प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इस प्रकार चिंतवन करता रहेगा तो अवश्य ही मोक्षमार्गमें लग जायगा तथा अपने आत्माको पवित्र बनाकर अन्य जीवोंका भी कल्याण करता रहेगा।

आगे मिथ्यात्व और आर्तरौद्र ध्यानको छोडनेके लिए तथा जिनेंद्र होनेके लिए कहते हैं—

रौद्रार्त्तभावं भवबंधमूलं
मिथ्याविषं प्राणहरं विमुच्य ।
ध्यानं च धर्मस्य समाधिमूलं
सेवां मुनीनां कुरु मोक्षदां वा ॥ ७१ ॥
सामायिकं शांतिकरं सदैव
समस्तसन्तापविनाशकं यत् ।
स्थातुं स्वधर्मे हि तथा यतस्व
यतस्तवात्मा प्रभवेज्जिनेंद्रः ॥ ७२ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! यदि तू अपने आत्माको भगवान् जिनेंद्रदेवके समान ही जिनेन्द्रदेव बनाना चाहता है तो जन्म-मरणरूप संसारके बंध होनेके मूल कारण ऐसे आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका सर्वथा त्याग कर और समस्त जीवोंके प्राणोंको हरण करनेवाले मिथ्यात्वरूपी विषयका सर्वथा त्याग कर। इन दोनोंका सर्वथा त्याग कर समाधिमरणका मूल कारण ऐसे धर्मध्यानको धारण कर, मोक्ष देनेवाली मुनियोंकी सेवा कर, समस्त सन्तापको नाश करनेवाले और आत्मामें सदाकाल शांति स्थापन करनेवाले सामायिक को सदाकाल कर और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें स्थिर रहनेके लिए इस प्रकार प्रयत्न कर कि जिससे यह तेरा आत्मा स्वयं जिनराज पदपर विराजमान हो जाय।

भावार्थ—ध्यानके चार भेद हैं आर्तध्यान, रौद्रध्यान,

धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। आर्तध्यानके चार भेद हैं—किसी पुत्र पौत्रादिक इष्ट पदार्थोंके वियोग होनेपर उसके संयोगके लिए वार-वार चिंतवन करना, शत्रु आदि किसी अनिष्ट पदार्थके संयोग होनेपर उसके वियोगके लिए वार-वार चिन्तवन करना, किसी रोगके होनेपर उसके दूर होनेके लिए वार-वार चिन्तवन करना और आगामीकालके लिए वा आगेके जन्मके लिए भोगोंकी इच्छा करना ये चार आर्तध्यानके भेद हैं। हिंसामें आनन्द मानकर उसका वार-वार चिंतवन करना, मिथ्याभाषण करनेमें आनन्द मानकर उसके लिए वार-वार चिंतवन करना, चोरीमें आनन्द मानकर उसके लिए वार-वार चिंतवन करना और परिग्रहमें आनन्द मानकर उसके संग्रहके लिए वार-वार चिन्तवन करना ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं। इनमेंसे रौद्रध्यान नरकका कारण है और आर्तध्यान तिर्यंचादिक गतिका कारण है। ये दोनों ध्यान जन्ममरणरूप संसारको बढानेवाले हैं। धर्मके स्वरूपका चिन्तवन करना धर्मध्यान है। उसके भी चार भेद हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा मानना, उसके प्रसारके लिए प्रयत्न करना, आज्ञाविचय नामका पहला धर्मध्यान है। इस संसारमें जो जीव मिथ्यादृष्टी हैं वा दुःखी हैं उनका मिथ्यात्व वा दुःख किस प्रकार छूट सकता है, इस प्रकार वार वार चिन्तवन करना अपायविचय नामका दूसरा धर्मध्यान है। इस संसारमें जो सुख दुःख मिलता है वह कर्मोंके उदयसे ही मिलता है। दूसरे लोग तो उसमें निमित्त

कारण है यही समझकर सुख दुःख दोनोंमें समता धारण करना और कर्मोंके उदयका चिंतवन करना विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान है। इसी प्रकार लोकाकाशके स्वरूपका वा उसमें भरे हुए समस्त पदार्थोंका तथा मुख्यतया आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान है। इस प्रकार ये चारों ध्यान परम्परासे मोक्षके कारण हैं। पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार शुक्लध्यानके भेद हैं। जिसमें तीनों योगोंके द्वारा अनेक पदार्थोंका चिंतवन किया जाय उसको पृथक्त्ववितर्क कहते हैं। किसी एक योगके द्वारा किसी एक ही पदार्थका चिंतवन किया जाय अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का विचार न हो, अर्थात् जिस चिंतवनमें न तो पदार्थोंका संक्रमण हो, न शब्दोंका संक्रमण हो और न योगोंका संक्रमण हो उसको एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते हैं। संक्रमणका अर्थ बदलना है, चिंतवन करते करते एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थको चिंतवन करने लगना वा एक शब्द को छोडकर दूसरे शब्दसे चिंतवन करने लगना अथवा किसी एक योगसे चिंतवन करते हुए किसी दूसरे योगसे चिंतवन करने लगना वीचार वा संक्रमण कहलाता है। यह विचार पहले शुक्लध्यानमें होता है दूसरेमें नहीं। ये दोनों प्रकारके शुक्लध्यान श्रुतकेवलियोंके होते हैं। जो आत्मचिंतवन केवल काययोगसे किया जाता है और जिसमें क्रियाका सम्पर्क अत्यंत सूक्ष्मरीतिसे होता है उसको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती

नामका तीसरा शुक्लध्यान कहते हैं । यह ध्यान केवली भगवान्‌के तेरहवें गुणस्थानमें होता है। जो ध्यान बिना किसी योगके केवल आत्माके द्वारा होता है जिसमें क्रियाका संबंध सर्वथा छूट जाता है ऐसा चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाला ध्यान चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान कहलाता है । ये चारों शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षके कारण हैं। हे आत्मन्! यदि तू मोक्षके सुख चाहता है तो आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनोंका सर्वथा त्याग कर और धर्मध्यानको धारण कर। प्रतिदिन सामायिक कर, उसमें धर्मध्यानका चिंतवन कर तथा मुनियोंकी सेवा कर, उनको आहारदान दे, उनकी वैयावृत्ति कर और उनकी आज्ञानुसार चल। हे आत्मन्! ऐसा करनेसे ही तेरे आत्माका शीघ्र कल्याण होगा। आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होनेसे तू शीघ्र ही भगवान् जिनेंद्रदेवका पद प्राप्त कर लेगा। प्रतिदिन सामायिक करनेसे समस्त संताप दूर हो जाते हैं, मन शांत हो जाता है और शांत होकर आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन हो जाता है।

आगे एकत्वभावनाका चिंतवन करते हैं—

स्वात्मा सदैको म्रियतेऽसहायः ।
को जायते कर्मवशात्सदैकः ॥
करोति पापं विषमं सदैको ।
भुंक्ते तदेकः समयं सुलब्ध्वा ॥ ७३ ॥

मोक्षं प्रयाति स्वयमेव चैको ।
मोक्षे सदा तिष्ठति वापि चैकः ॥
आत्मा तथा नात्मनि तिष्ठतीत्थं ।
तावद्विचारः सुखदश्च कार्यः ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! देख. यह आत्मा सदा अकेला ही मरता है, उस समय इसका कोई सहायक नहीं होता तथा इस संसारमें अपने कर्मके उदयसे सदा अकेला ही जन्म लेता है । यह आत्मा अकेला ही सदाकाल महापाप उत्पन्न करता रहता है और समय पाकर अकेला ही उन कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले महादुःखोंको भोगता रहता है । इसी प्रकार अकेला ही मोक्ष जाता है और अकेला ही सदाकाल सिद्ध अवस्थामें विराजमान बना रहता है । हे आत्मन् ! जब तक तेरा आत्मा इस प्रकार मोक्षमें पहुंचकर अपने आत्मामें लीन न हो जाय तब तक तू इस सुख देनेवाली आत्माकी एकत्वभावनाका ही चिंतवन करता रह ।

भावार्थ—यह आत्मा जब तक इस एकत्व भावनाका चिंतवन नहीं करता तब तक ही इस संसारमें पडा पडा दुःख भोगा करता है । एकत्वभावनाका चिंतवन करनेसे यह आत्मा परपदार्थोंके ममत्वको छोड देता है, कुटुम्बसे ममत्व छोड देता है और अकेले आत्माका चिंतवन करता हुआ उसीमें लीन हो जाता है । इस प्रकार एकत्वभावनाका चिंतवन करना मोक्षका कारण है । इसलिए हे आत्मन् ! तू

भी सदाकाल इस एकत्वभावनाका चिंतवन कर इसके चिंतवन करनेसे अवश्य ही तेरे आत्माका कल्याण होगा।

आगे रत्नत्रयको धारण करनेके लिए कहते हैं—

दृग्बोधचारित्रसुखस्वरूपी
स्वात्मा सदा तेऽस्ति यथार्थदृष्ट्या।
तथाप्यबोधादिति तद्विरुद्धं
मत्वा व्यथादं कृतवान् कुकर्म ॥७५॥
ज्ञात्वेति तत्कर्मविनाशनार्थं
दृग्बोधचारित्रसुखस्वरूपः।
स्वात्मेति मत्वा कुरु चित्तशुद्धिं
स्यात्ते स्वसिद्धिर्निजराज्यदात्री ॥ ७६ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! देख, यदि यथार्थरीतिसे देखा जाय तो यह तेरा आत्मा सदाकाल सम्यग्दर्शनमय है, सम्यग्ज्ञानमय है। सम्यक्चारित्रमय है और अनंतसुखस्वरूप है। तथापि हे आत्मन्! तूने अपने अज्ञानके कारण उसे अपने स्वरूपसे विरुद्ध समझा है और इसीलिए तूने महादुःख देनेवाले अनेक कुकर्म किए हैं। हे आत्मन! अब तू उन कर्मोंको नाश करने के लिए अपने आत्माको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और अनंतसुखमय समझ और ऐसा समझकर अपने चित्तको शुद्ध कर। हे आत्मन्! ऐसा करनेसे ही आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यको देनेवाली तेरे आत्माकी सिद्धि हो जायगी।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते हैं। यह रत्नत्रय आत्माका निज स्वरूप है और इसीलिए यह मोक्षका कारण है। यह आत्मा अनादि-कालसे कर्मोंके वशीभूत हो रहा है और उन कर्मोंने ही इस आत्माके यथार्थ स्वरूपको ढक रक्खा है। मोहनीयकर्मने आत्माके सम्यग्दर्शन गुणको ढक रक्खा है। जब वह दर्शनमोहनीयकर्म तथा अनन्तानुबंधी चारित्रमोहनीयकर्म नष्ट हो जाता है वा उनका उपशम हो जाता है तब आत्माका सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हो जाता है। यह आत्माका गुण एक प्रकारके प्रकाशके समान है। जैसे प्रकाश होनेपर अपने परायेका यथार्थ ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके प्रगट होते ही अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपका और परपदार्थोंका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। इस अनुभवके द्वारा यह आत्मा परपदार्थोंका त्याग कर देता है और आत्माके स्वरूपको उपादेय समझकर उसमें लीन होनेका प्रयत्न करता है। उस सम्यग्दर्शन रूप प्रकाशके साथ जो आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव होता है उसीको सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा उस सम्यग्ज्ञानके होनेपर जो परपदार्थोंको हेय समझकर उनका सर्वथा त्याग कर देना है उसीको सम्यक्चारित्र कहते हैं। यह आत्मा परपदार्थोंके संयोगसे ही वा उनको अपना मानकर ही दुःखी हो रहा है। जब परपदार्थोंका संयोग छूट जाता है तब यह आत्मा अपने आप सुखी हो जाता है। हे आत्मन्! यदि तू भी इसी प्रकार

सुखी होना चाहता है तो सबसे पहले समस्त पापोंका त्याग कर आत्माको शुद्ध बना, अपने आत्माको शुद्ध बनाना ही अपने आत्माकी सिद्धि कहलाती है।

आगे आत्माके शुद्धस्वरूपको चिंतवन करनेके लिए कहते हैं।

स्पर्शादिवर्णात्मकपुद्गलेन
मुक्तस्तवात्माखिलभोगसंगात्।
दुःखप्रदाद् बंधुकलत्रसंगाद्
दूरोऽस्ति मिथ्यात्वकषायकाण्डात् ॥ ७७ ॥

स्वनन्दसाम्राज्यपदे प्रयुक्तः
तुष्टस्तवात्मा स्वचतुष्टयेन।
मिष्टे निजानंदरसेऽस्ति पुष्टो
निजेऽपि निष्ठो भुवने गरिष्ठः ॥ ७८ ॥

एवं विचारः सुखदः सदैव
हे वत्स ! कार्यो हि त्वया प्रशान्त्यै।
आचार्यवर्येण सुखाश्रितेन
श्रीकुंथुनाम्नेति सदा प्रणीतम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! देख तेरा यह आत्मा स्पर्श रस गंध वर्णमय पुद्गलोंके विकारसे सर्वथा रहित है तथा सब प्रकारके भोगोंसे रहित है। इसी प्रकार सर्वदा दुःख देनेवाले

स्त्री पुत्र भाई बंधु आदिके समागमसे सदा रहित है। और मिथ्यात्व वा कषायोंके समूहसे सर्वथा रहित है। इन सबसे सर्वथा रहित होकर अपने आत्म-जन्य आनन्दके साम्राज्यके सिंहासनपर विराजमान है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टयोंसे सदा संतुष्ट रहनेवाला है, अत्यन्त स्वादिष्ट वा मिष्ट ऐसे निजानन्दरसमें लीन होनेके कारण सदा पुष्ट रहनेवाला है, अपने आत्मामें ही सदा लीन रहनेवाला है और तीनों लोकोंमें पूज्य वा सर्वोत्तम माना जाता है। हे आत्मन! तुझे अपने परिणामोंको सदा शान्त रखनेके लिए ऊपर लिखे अनुसार सुख देनेवाला विचार सदा करते रहना चाहिये। ऐसा आत्म-सुखमें लीन रहनेवाले आचार्य श्री कुंथुसागर स्वामीने निरूपण किया है।

भावार्थ— स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये सब पुद्गलद्रव्यके गुण हैं। आत्मामें ये गुण सर्वथा नहीं हैं, आत्मा पुद्गलोंके विकारसे सर्वथा रहित है। कोई भी संसारी जीव जब मर जाता है तब शरीर यहीं पड़ा रह जाता है और ज्ञानमय आत्मा इसमेंसे निकलकर अन्यत्र शरीर धारण करनेके लिए चला जाता है। इससे भी सिद्ध हो जाता है कि इस शरीरमें आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। शरीर पुद्गलमय है और आत्मा ज्ञानमय है। इसी प्रकार भोगोपभोगोंसे भी आत्मा भिन्न है। क्यों कि संसारमें जितने भोगोपभोगकी सामग्री है वह सब पुद्गलमय है तथा पुद्गलमय सामग्रीको

भोग पुद्गलमय शरीर ही कर सकता है। पुद्गलमय सामग्री-का भोग अमूर्त आत्मा कभी नहीं कर सकता। इससे भी सिद्ध होता है। भोगोपभोगोंका भोक्ता शरीर है आत्मा नहीं है। इसी प्रकार स्त्री पुत्र, मित्र, भाई बंधु आदिका सम्बन्ध भी शरीरके साथ है। आत्माके साथ किसीका कुछ सम्बन्ध है ही नहीं। पुत्र मित्रादिक सब अपने कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं और कर्मके उदयके अनुसार ही उनका संयोग वियोग होता रहता है। इसलिए हे आत्मन्! तू अपने आत्माको इन सबसे भिन्न ही समझ। इसी प्रकार मोहनीयकर्मके उद-यसे मिथ्यात्व होता है और मोहनीयकर्मके उदयसे ही कषाय होते हैं। कर्म सब पौद्गलिक हैं इसलिए मिथ्यात्व कषायरूप होनेवाला उनका उदय भी पौद्गलिक ही है। इस प्रकार विचार करनेसे मिथ्यात्व और कषाय भी आत्मासे सर्वथा भिन्न ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार इन सबसे सर्वथा भिन्न रहनेवाला यह आत्मा अनन्तचतुष्टयमय है। अनन्त चतुष्टय इसके स्वाभाविक धर्म है। इसलिए वे सदा आत्माके ही साथ रहते हैं। हम लोगोंके जो कर्मोंका आवरण पड़ा हुआ है वह उसे ढक रहा है। उस आवरणके हटते ही वह अनन्तचतुष्टय अपने आप प्रगट हो जाता है। यह तेरा आत्मा अनन्तचतुष्टयमय होनेके कारण ही अनन्तसुखरूपी साम्राज्यमें लीन रहता है और उसी अनंतसुखसे सदाकाल पुष्ट बना रहता है। इस प्रकार अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदाकाल लीन रहनेवाला यह आत्मा

तीनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट और पूज्य माना जाता है। हे आत्मन्! तेरा यह आत्मा ऐसे सर्वोत्कृष्ट स्वरूपको धारण करनेवाला है। इस प्रकार विचार करता हुआ तू पुद्गलोंके समस्त विकारोंसे अपना ममत्व छोड, बाह्य विभूतिसे ममत्व छोडकर उसका त्याग कर, कुटुम्ब वा परिग्रहका ममत्व छोडकर उसका भी सर्वथा त्याग कर तथा मिथ्यात्व और काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आदि विकारोंका भी, सर्वथा त्याग कर। इन सबका त्याग करनेसे तेरा आत्मा शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करेगा और शुद्ध सम्यक्चारित्र को धारण करेगा। इस प्रकार रत्नत्रयको धारण करनेसे कर्मोंका नाश होगा और अपने आप अनन्तचतुष्टय प्रगट होकर सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जायगी तथा फिर वह सिद्ध अवस्था अनंतानंतकाल तक बनी रहेगी। फिर उसमें कभी भी किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हो सकेगा। इस संसारमें जीवोंकी अवस्थामें जो परिवर्तन होता है वह कर्म और कषा-योंके निमित्तसे होता है। सिद्ध अवस्थामें कर्म और कषायों का सर्वथा अभाव हो जाता है, इस लिए उन सिद्धोंमें फिर कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता। हे आत्मन्! इस प्रकार चिंतवन करता हुआ तू अपने परिणामोंको निर्मल कर तथा बहुत शीघ्र सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेका प्रयत्न कर। ऐसा आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर महाराजका उपदेश है। यही उपदेश आत्माके लिए कल्याणकारी है।

आगे आचार्य गुरुका उपकार मानते हुए ग्रंथकी महिमा बतलाते हैं।

दीक्षागुरोर्मे सुखशांतिसिंधो- ।
रज्ञानहर्तुश्च सुधर्मसिंधोः ॥
विद्यागुरोरेव कृपाप्रसादाद्
ग्रंथो मयाऽयं रचितः पवित्रः ॥ ८० ॥
स्वर्मोक्षदं वांछितदं ततो ये ।
ग्रंथं ह्यमुं शुद्धिकरं जनानाम् ॥
पठन्ति भक्त्यैव नमंति नित्यं ।
स्वर्गापवर्गं भुवि ते लभन्ते ॥ ८१ ॥

अर्थ—मेरी आत्माका कल्याण करनेवाले और मुझे जैनेश्वरी दीक्षा देनेवाले मेरे दीक्षागुरु सुख और शांतिके सागर ऐसे आचार्यवर्य श्री शांतिसागरजी महाराज हैं तथा मेरे अज्ञानको दूर करनेवाले मेरे विद्यागुरु आचार्य सुधर्मसागरजी महाराज हैं। इन दोनों गुरुओंकी असीम कृपाके प्रसादसे ही मैं इस पवित्र ग्रंथकी रचना कर सका हूं। यह पवित्रग्रंथ स्वर्गमोक्षको देनेवाला है और समस्त जीवोंकी आत्माओंको शुद्ध करनेवाला है। इस प्रकारके ऐसे इस ग्रंथको जो लोग भक्तिपूर्वक पढते हैं और इसे सदा नमस्कार करते हैं वे पुरुष इस संसारमें शीघ्र ही स्वर्गमोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार सामायिक और प्रतिक्रमण आदिके करनेसे आत्मा पवित्र होता है उसी प्रकार इस प्रतिक्रमणसार

ग्रंथको पढनेमें आत्मा पवित्र हो जाता है तथा आत्माके पवित्र होनेसे ही स्वर्ग मोक्षकी प्राप्ति होती है।

ख्यात्यादिहेतो रचितो मयायं।
ग्रन्थो न किन्तु स्वपरात्मशान्त्यै॥
आबालवृद्धादिहितार्थमेव।
सन्तापहर्ता वरसूरिणेति॥ ८२॥

अर्थ—समस्त जीवोंका संताप दूर करनेवाले और श्रेष्ठ आचार्य ऐसे मुझ कुंथुसागरने यह ग्रंथ अपनी प्रसिद्धिके लिए नहीं बनाया है किंतु अपने आत्माको शान्ति पहुंचानेके लिए तथा अन्य समस्त जीवोंको शान्ति पहुंचानेके लिए ही बनाया है। अथवा बालक वृद्ध युवा आदि समस्त स्त्री पुरुषोंका हित करनेके लिए ही इस ग्रंथकी रचना की है।

ग्रंथं ह्यमुं वांछितदं हि भक्त्या।
पठंति ये केऽपि सदैव तेभ्यः॥
स्वर्मोक्षलक्ष्मीं वृषभादिवीरा।
ददन्तु शांतिं वरसूरयोऽपि।॥ ८३॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष इच्छानुसार फल देनेवाले इस ग्रंथको भक्तिपूर्वक पढते हैं वा पढाते हैं उनके लिए भगवान वृषभदेवसे लेकर श्री महावीरस्वामी पर्यंत चौबीसों तीर्थंकर तथा कुंदकुंदादिक समस्त आचार्य शांति प्रदान करें तथा अनुक्रमसे स्वर्गमोक्षकी लक्ष्मी प्रदान करें।

श्रीकुंथुनाम्नः सुखशांतिमूर्ते--।
ग्रंथः सदायं वरसूरिणोऽस्ति ॥
दुःखं प्रजानां हरतु क्षणान्मे–ऽ
भिप्राय एवं विदधातु सौख्यम् ॥८४॥

अर्थ—सुख और शांतिकी उत्कृष्टमूर्ति ऐसे सर्वश्रेष्ठ आचार्य श्रीकुंथुसागर महाराजका बनाया हुआ यह ग्रंथ सदाकाल समस्त प्रजाका दुःख दूर करो और समस्त जीवोंको क्षणभरमें परम सुखकी प्राप्ति करो। यही मुझ कुंथुसागरका अभिप्राय है।

भावार्थ— आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागर कहते हैं कि इस ग्रंथके पठन–पाठनसे समस्त जीवोंका दुःख दूर हो तथा समस्त जीवोंको सुखकी प्राप्ति हो, यही मेरी भावना है और उसी भावनाको लेकर मैंने इस पवित्र ग्रंथकी रचना की है।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर विरचित तथा लालाराम शास्त्री 'धर्मरत्न' कृत भाषाटीका सहित यह प्रतिक्रमणसार नामका ग्रंथ समाप्त हुआ।



आगे संक्षेपसे निश्चयलघुप्रतिक्रमण लिखते हैं—

संक्षेपसामायिककर्तुरर्थं ।
संक्षेपरीत्या सुखदं विधानम् ॥
सामायिकादेः प्रतिपाद्यते हि ।
नत्वा जिनं वांछितदं सदा मे ॥८५॥

अर्थ—आगे मैं सदाकाल इच्छानुसार फल देनेवाले भगवान् जिनेंद्रदेवको नमस्कार करता हूं और फिर जो पुरुष संक्षेपरीतिसे सामायिक वा प्रतिक्रमण करना चाहते हैं उनके लिए अत्यन्त संक्षेपसे ही सामायिक आदिकी सुख देनेवाली विधिका निरूपण करता हूं ।

स्वात्मबाह्ये पदार्थे यो नित्येऽनित्ये प्रियेऽप्रिये ।
साम्यं दृष्ट्वा स्थितो ह्यासीच्चिदानंदे हि नौमि तम् ।

अर्थ—इस संसारमें अपने आत्मासे भिन्न जो पुद्गलादिक पदार्थ हैं चाहे वे नित्य हों, चाहे अनित्य हों, चाहे प्रिय हों और चाहे अप्रिय हों उन सबको जो समान दृष्टिसे देखता है और जो स्वयं चिदानंदस्वरूप अपने शुद्ध आत्मामें विराजमान रहता है ऐसे महापुरुषके लिए मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—इसमें समता धारण करनेवालोंको नमस्कार किया है। समता धारण करना संसारको नाश करनेका, वा मोक्ष प्राप्त करनेका मूलकारण है । क्यों कि जहां राग द्वेष दोनोंका सर्वथा अभाव होगा वहां ही समता धारण हो सकेगी । समता धारण करनेवाला महापुरुष

लाभ और अलाभ दोनोंमें समान परिणाम रखता है तथा सुख और दुःखमें भी समान परिणाम रखता है। समता धारण करनेवाला पुरुष अपने आत्माको छोडकर अन्य समस्त पदार्थोंको हेय समझता है इसलिये वह लाभ होनेपर वा सुख मिलनेपर हर्षित नहीं होता और अलाभ होनेपर वा दुःख मिलनेपर अपने परिणामोंमें सक्लेशता धारण नहीं करता। वह महापुरुष केवल अपने आत्माको ही उपादेय समझता है इसलिए वह उसीमें सदा लीन बना रहता है। इस प्रकार वह वीतराग महासाधु निश्चयरीतसे सदाकाल प्रतिक्रमण करता रहता है। ऐसे महापुरुषके लिए मैं नमस्कार करता हूं। ऐसा महापुरुष शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार समताका स्वरूप चिंतवन करना लघुप्रतिक्रमण है।

आगे वन्दनागुणको कहते हैं।

अर्हत्सिद्धादिपूज्यानां त्रिकाले भक्तिवन्दनाम्।
कुर्वन् यो निजराज्येऽभूत्स्थिरस्तं नौमि मोक्षदं॥८७॥

अर्थ—भगवान अरहंतदेव, भगवान् सिद्धपरमेष्ठी व आचार्य उपाध्याय साधु ये पंच परमेष्ठी सदाकाल पूज्य हैं। जो पुरुष इन पांचो परमेष्ठियोंकी प्रातःकाल मध्याह्नकाल, सायंकाल तीनों कालोंमें भक्तिपूर्वक वंदना करता है और अपने आत्माकी शुद्धतारूप स्वराज्यमें सदाकाल स्थिर रहता है, ऐसे मोक्ष प्राप्त करानेवाले महासाधुको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—इसमें वंदना करनेवालेको नमस्कार किया है। वंदना किसी एक तीर्थंकरकी की जाती है अथवा किसी एक सिद्धपरमेष्ठीकी की जाती है अथवा किसी एक साधुकी की जाती है। यह वन्दना हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर क्रियापूर्वक करनी चाहिए। अथवा किसी एक तीर्थंकरकी वा एक सिद्धपरमेष्ठीकी वा किसी एक आचार्य उपाध्याय साधुकी स्तुति करना भी वन्दना कहलाती है। जो पुरुष इस विधिके अनुसार वन्दना करता हुआ अपने शुद्ध आत्मामें लीन रहता है वह महासाधु महापुरुष कहलाता है। पंच परमेष्ठियोंमें वह गाढभक्ति रखता है और अपने आत्माको तन्मय बना देता है इसीलिए उसका आत्मा अत्यंत निर्मल हो जाता है और वह सबके द्वारा पूज्य व नमस्कार करने योग्य हो जाता है। ऐसे पुरुषको नमस्कार करना और तन्मय होना निश्चय लघुप्रतिक्रमण है।

आगे स्तुतिका स्वरूप कहते हैं—

वृषभादिजिनानां यः कुर्वन् गुणस्तवादिकम्।
मनोवाक्कायशुद्ध्या हि स्तौमि तं तृप्तमात्मनि॥८८॥

अर्थ—महापुरुष अपने मन वचन कायकी शुद्धतापूर्वक भगवान वृषभदेवको आदि लेकर महावीर स्वामीपर्यंत चौबीसो तीर्थंकरोंके गुणोंकी स्तुति करता है और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें सदा तृप्त रहता है ऐसे महापुरुषकी मैं भी स्तुति करता हूं।

भावार्थ—इसमें स्तुति करनेवालेको नमस्कार किया है।

भगवान् जिनेन्द्रदेवके समस्त गुणोंका वर्णन करना अथवा भगवान जिनेन्द्रदेवके एक हजार आठ नामोंकी व्युत्पत्ति पूर्वक पूजन करना अथवा चौबीसों तीर्थंकरोंकी स्तुति करना स्तुति कहलाती है। जो पुरुष भक्तिपूर्वक स्तुति करता है वह उस पूज्य पुरुषके गुणोंमें तन्मय हो जाता है। उस समय वह समस्त पापकर्मोंको नाश करता हुआ आगामी कर्मोंसे बचता हुआ अनन्तकर्मोंकी निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार यह अपने आत्माको निर्मल बनाता हुआ तीर्थंकरादिकोंके समस्त गुणोंको प्राप्त कर लेता है। ऐसा महापुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें ही सदा लीन रहता है और अन्य समस्तपदार्थोंसे अपने आत्माको हटा लेता है। ऐसे महापुरुषकी स्तुति करना वा उनकी वंदना करना भी निश्चयप्रतिक्रमण है। क्यों कि ऐसे पुरुष को वंदना करनेसे उसके गुणोंमें अनुराग बढता है तथा अनुराग होनेसे उन गुणोंको धारण करता हुआ तन्मय हो जाता है इसीलिए इस स्तुतिको भी प्रतिक्रमण कहा है।

आगे प्रतिक्रमणको कहते हैं।

द्रव्यक्षेत्रादिभावेषु कृतदोषादिवर्जनम्।
यः प्रतिक्रमणं कुर्वन् स्वं वेत्ति स्तौमि तं मुदा॥

अर्थ—जो पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिमें लगे हुए दोषोंका पश्चात्ताप करता हुआ उनका त्याग करता है और इस प्रकार प्रतिक्रमण करता हुआ आत्माके स्वरूपको जानता है ऐसे महापुरुषको मैं प्रसन्नतापूर्वक नमस्कार करता हूं

भावार्थ—इस प्रतिक्रमण करनेवालेको नमस्कार किया है। द्रव्य क्षेत्र काल भावोंमें अपना किसी प्रकारका अपराध वा दोष हो जाय तो अपने आत्माकी निंदा करके वा अपने अपने आत्माको धिक्कार देकर मन, वचन, कायके द्वारा उस अपराध वा दोषको शुद्ध करना, प्रायश्चित्त लेना और आगेके लिए उस दोषका सर्वथा त्याग कर देना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमण करनेवाला पुरुष प्रथम तो दोषोंको लगाता ही नहीं है। यदि कारणवश कोई दोष लग भी जाता है तो वह अपने आत्माकी निंदा वा गर्हा करके वा पश्चात्ताप करके उस दोषको दूर करता है। इस प्रकार अपने आत्माको निर्दोष बनाता हुआ वह पुरुष अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन रहनेका प्रयत्न करता है तथा इस प्रकार समस्त पापोंसे रहित होकर और समस्त कर्मोंको नाश कर शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। ऐसे महापुरुषकी स्तुति करना और उसके गुणों को धारण करना निश्चयप्रतिक्रमण कहलाता है।

आगे प्रत्याख्यानको कहते हैं—

सावद्यद्रव्यभावानां प्रत्याख्यानं विधाय यः।
निरवद्येषु भावेषु यतते नौमि तं स्थिरम्॥९८॥

अर्थ—जो महापुरुष पाप सहित द्रव्यभावादिकोंका त्याग करके निर्दोष वा पापरहित भावोंमें स्थिर होनेका प्रयत्न करता है ऐसे महापुरुषको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—इसमें प्रत्याख्यान करनेवालेको नमस्कार किया है। जिस नामके लेनेसे पाप लगता है, जिस स्थाप-

नाके करनेसे वा पूजा आदि करनेमें पाप लगता है, जिस द्रव्यको काममें लानेमें पाप लगता है, जिस क्षेत्रके जानेमें पाप लगता है, जो काल अशुभ गिना जाता है और जो भाव अशुभ वा पापरूप कहलाते हैं, उन सबका जो त्याग कर देता है और जिस नामके लेनेसे पुण्य होता हो वा पाप नष्ट होते हों, जिस स्थापनाके करनेमें पुण्य होता हो वा पाप नष्ट होते हों, जिस द्रव्यके सेवन करनेमें पाप नष्ट होते हों, जिस क्षेत्रमें पाप नष्ट होते हों, जिस कालमें पाप नष्ट होते हों और जिन भावोंसे पाप नष्ट होते हों, उन द्रव्य क्षेत्र काल भावोंको जो धारण करनेका प्रयत्न करता है और जो अपने आत्मामें ही स्थिर बने रहनेका प्रयत्न करता है, वह पुरुष महापुरुष कहलाता है और ऐसे पुरुषको नमस्कार करना निश्चय प्रतिक्रमण कहलाता है। भगवान् अरहन्त देवका वा चौबीस तीर्थंकरोंका नाम लेनेसे पापोंका नाश होता है, भगवान् अरहंतदेव वा पंच परमेष्ठीकी स्थापना करना पापोंका नाश करनेवाला है। जिन प्रतिमा, जिनालय, शास्त्र, धर्मके उपकरण आदि पापोंके नाश करनेवाले द्रव्य हैं, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर, चम्पापुर आदि पुण्यक्षेत्र पाप नाश करनेवाले क्षेत्र है, तीर्थंकरोंके कल्याणकोंके समय पुण्यकाल वा पापोंका नाश करनेवाला काल कहलाता है और आत्माके शुद्धभाव पापोंके नाश करनेवाले भाव कहलाते हैं। जिस पापी मनुष्यका नाम लेनेसे पाप लगता हो वह अशुभ नाम है जिस क्षेत्रमें जानेसे रत्नत्रयका नाश होता

हो वह अशुभ क्षेत्र है, जिस स्थापनाके करनेसे मिथ्यात्वकी वा कषायोंकी वृद्धि होती हो वह अशुभ स्थापना है जिस द्रव्यसे पुण्योपार्जन नहीं होता वह अशुभ द्रव्य है। ग्रहणकाल, उल्कापातकाल आदि अशुभ काल हैं। और जिन भावोंसे पाप कर्मोंका आस्रव होता हो वह अशुभ भाव हैं। इस प्रकार अशुभ द्रव्यादिक वा शुभ द्रव्यादिकका स्वरूप समझ कर अशुभ द्रव्यादिकका सर्वथा त्याग कर आत्मामें लीन होना निश्चय प्रतिक्रमण है। तथा ऐसे प्रतिक्रमण करनेवालेको नमस्कार करना भी निश्चय प्रतिक्रमण है।

आगे व्युत्सर्गका स्वरूप कहते हैं—

स्वात्मा चिन्मयमात्रोऽस्ति मम ज्ञात्वेति चिह्नतः।
तन्वादेर्निर्ममः सन् यो लीनः स्वात्मनि नौमि तं॥९१॥

अर्थ—यह मेरा आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप है इस प्रकार उसके चैतन्यगुणसे जानकर शरीर आदि परद्रव्योंसे जो ममत्वका सर्वथा त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन बना रहता है ऐसे महापुरुषको मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—इसमें व्युत्सर्गगुणको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार किया है। स्तुति वंदना आदि कार्योंमें शरीरसे ममत्वका त्याग कर देना तथा अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित रहनेवाले पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करना अथवा शास्त्रोंमें लिखी हुई विधिके अनुसार कुम्भक, पूरक, रेचकके द्वारा श्वासोच्छ्वासको रोक कर पंच परमेष्ठीका जप

करना कायोत्सर्ग वा व्युत्सर्ग कहलाता है। व्युत्सर्ग करने-वाला पुरुष अपने शरीरसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देता है और अपने आत्माके शुद्ध भावोंमें वा शुद्ध स्वरूपमें लीन रहता है। इस प्रकार वह महात्मा बहुत शीघ्र कर्मोंको नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है। ऐसे महापुरुको नम-स्कार करना, उसके गुणोंमें अनुराग रखना वा उसका तथा उसके गुणोंका पूजन करना आदि सब निश्चय व्युत्सर्ग कह-लाता है और इसीको निश्चयप्रतिक्रमण कहते हैं। इस प्रकार निश्चयलघुप्रतिक्रमणका स्वरूप कहा।

इस प्रकार आचार्यवर्य श्रीकुन्थुसागर विरचित तथा
'धर्मरत्न' पं. लालाराम शास्त्री कृत भाषाटीका
सहित यह निश्चयलघुप्रतिक्रमण
समाप्त हुआ।



अथ प्रशस्तिः

मोक्षं गते महावीरे स्वर्मोक्षसौख्यदायके ।
चतुर्विंशतिसंख्याते कौ षट्षष्ट्यधिके शते॥९२॥
प्रतापसिंहभूपस्य धर्मनीतिदयायुजः ।
धनरत्नसमाकीर्णे बडोदानगरे वरे ॥ ९३ ॥
मार्गशीर्षसिते पक्षेऽष्टम्यां मंगलवासरे ।
ध्वजादिभूषिते स्थित्वा वृषभेशजिनालये॥९४॥
स्वानंदसौख्यतुष्टेन दिग्वस्त्रधारिणा सता ।
शांतिसागरशिष्येण कुंथुसागरसूरिणा ॥ ९५ ॥
ग्रंथोऽयं शांतिदः श्राद्धप्रतिक्रमणसारकः ।
लिखितः कामदः सन् कौ भूयादाचन्द्रतारकम् ॥

अर्थ—स्वर्ग मोक्षके सुख देनेवाले भगवान् महावीर स्वामीके मोक्ष चले जानेके चौवीससौ छयासठवें वर्षमें धर्म-नीति और दयाके पालन करनेवाले महाराज प्रतापसिंहके धन और रत्नोंसे परिपूर्ण श्रेष्ठ बडोदा नगरमें ध्वजा तोरण आदिसे सुशोभित होनेवाले भगवान् वृषभदेवके जिनालयमें विराजमान होकर मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी मंगलवारके दिन अपने आत्मजन्य आनन्द और सुखसे सदा संतुष्ट रहनेवाले तथा दिशाओंको ही वस्त्र धारण करनेवाले और आचार्यवर्य श्रीशांतिसागरके शिष्य आचार्य कुंथुसागरने यह सब प्रकारकी शांति देनेवाला श्रावकप्रति-

क्षपणसार नामका ग्रंथ लिखा है। इस संसारमें जबतक सूर्य चंद्रमा रहे तबतक यह ग्रंथ समस्त जीवोंकी इच्छाओंको पूर्ण करता रहे। इति शम्।

कल्लोलसे चतुर्विध संघका विहार

जीवनलालः पद्मेशो गुरुभक्तः प्रभावकः।
कस्तूरचन्द्रः पूतात्मा वाडीलालो विचक्षणः ॥९७॥
स्वयंसेवककार्यार्थी कांतिलालः कलानिधिः।
श्रीमान् छगनलालश्च केशवलाल धार्मिकः ॥९८॥
चैत्रशुक्लचतुर्दश्यामाचार्य कुंथुसागरम्।
तारंगातीर्थयात्रार्थं कृतवन्तः सुप्रार्थनाम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—संघपति तीर्थभक्त समाजभूषण सेठ जीवनलालजी गोपालदास वखारिया, सेठ कांतिलाल गोपालदासजी वखारिया, सेठ वाडीलाल जगजीवनदासजी, सेठ कस्तूरचन्द ईश्वरलालजी, सेठ केशवलाल जगजीवनदासजी तथा कांतीलालजी भावनगरवाला सेठ छगनलालजी वखारिया सेठ जयसिंह भाई आदि धर्मकी प्रभावना करनेवाले तथा गुरुभक्त कल्लोल निवासी सद्गृहस्थ श्रावकोंने चैत्रशुक्ला चतुर्दशीके दिन आचार्य कुंथुसागर महाराजसे तारंगा तीर्थकी यात्रा करनेके लिए तथा संघके साथ चलनेके लिए प्रार्थना की।

स्वीकृत्य प्रार्थनां तेषां पूर्वोक्तश्रावकैर्वरैः।
श्राविकाभिः समं भव्यैः वाद्यघोषसमान्वितैः॥१००॥

वडोदा पोलिसैर्वर्गैः कामदाज्जिनमन्दिरात् ।
शुभे दिनेऽचलन्मार्गे भव्यान् संबोधयन् सदा॥१०१॥

अर्थ— उन सब श्रावकोंकी प्रार्थनाको स्वीकार करके समस्त भव्य जीवोंको सदाकाल श्रेष्ठ उपदेश देते हुए वे आचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज उन सब भव्य श्रावकोंके साथ, अनेक श्राविकाओंके साथ, बैंडबाजेके साथ, वडोदाकी पुलिसके साथ, समस्त इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले जिनालयसे किसी शुभ दिनको देखकर चलने लगे।

पेथापुरनृपैर्भक्त्या स्वागतं स्वामिनः कृतम् ॥
तत्र संबोध्य भूपादीन् चचालाग्रे कृपानिधिः॥१०२॥

अर्थ—पेथापुर पहुंचनेपर वहांके राजा साहब श्री फतहसिंहजी महाराजने भक्तिपूर्वक पूज्य आचार्य महाराजका स्वागत किया। कृपाके सागर आचार्य महाराजने वहांके महाराजको तथा अन्य समस्त लोगोंको श्रेष्ठ उपदेश दिया और फिर संघ सहित वहांसे आगे चले॥

साबरमतितीरस्थैः श्रावकैरलुवानृपैः ।
स्वागतं सूरिवर्यस्य कृतं दानार्चनादिकम् ॥१०३॥

अर्थ—आगे चलते हुए साबरमतिके किनारेके श्रावकोंने तथा अलुवा नरेश महाराज अर्जुनसिंहजीने आचार्य महाराजका स्वागत किया तथा उनकी पूजा की और इच्छानुसार दानधर्म किया।

सूरिवर्योऽपि तत्रत्यान् संबोध्यैव ततोऽचलत् ।
मार्गे ध्यानं तपः कुर्वन् सन् माणिकपुरं गतः॥१०४॥

अर्थ--आचार्य श्रीकुंथुसागरजीने वहांके सब लोगोंको सदुपदेश दिया और फिर वे वहांसे चलकर मार्गमें ध्यान और तपश्चरण करते हुए माणिकपुर नामके नगरमें पहुंचे ।

प्रवीणसिंहभूपैश्च तत्रत्यैः सर्वधार्मिकैः ।
अनर्घ्यरत्नमेवं हि स्वागतं भक्तितः कृतम्॥१०५॥

अर्थ—वहांपर वहांके महाराज प्रवीणसिंहजीने तथा वहांके समस्त धर्मात्मा बंधुओंने आचार्यवर्य श्रीकुंथुसागरको अमूल्य रत्न समझकर भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया ।

तत्र संबोध्य भूपादींस्ततः प्राप वलासणम् ।
नृपैर्नागरिकैः सर्वैः स्वागतं शांतिदं कृतम्॥१०६॥

अर्थ—वहांपर भी आचार्य महाराजने वहांके महाराजा तथा वहांके भव्यजीवोंको धर्मका उपदेश दिया । तदनन्तर वे आचार्य वहांसे चलकर वलासणा स्टेटमें पहुंचे । वहांके महाराज शिवसिंहजीने तथा नगरके समस्त लोगोंने आचार्य महाराजका महाशांति उत्पन्न करनेवाला स्वागत किया ।

भव्यान् संबोध्य तत्रत्यान् तारंगामेदिनीं गतः ।
मोक्षं गते महावीरे स्वमोक्षसौख्यदायके ॥ १०७॥
चतुर्विंशतिसंख्याते पंचषष्ट्यधिके शते ।
वैशाखशुक्लपक्षे हि मानस्तम्भमहोत्सवम् ॥१०८॥

दृष्ट्वारमशान्तये तत्र स्थितवान् कतिचिद्दिनम् ।
ततोऽचलत्तपः कुर्वन् पावागढं सुखप्रदम् ॥१०९ ॥

अर्थ—आचार्य महाराजने वहांके समस्त भव्यजीवोंको श्रेष्ठ उपदेश दिया और फिर वे वहांसे चलकर तारंगा पर्वतकी भूमिपर पहुंचे । भगवान् महावीर स्वामीके मोक्ष जानेके अनंतर चौवीससौ पैंसठवें वर्षमें वैसाख शुक्ला तृतीयाके दिन उन आचार्य महाराजने वहांकी मानस्तम्भ प्रतिष्ठा देखी और फिर वे अपने आत्माको शांति पहुचानेके लिए कुछ दिन वहां रहे । तदनन्तर वे वहांसे चले और मार्गमें तपश्चरण करते हुए सुखप्रद पावागढ पर्वतकी भूमिपर पहुंचे ।

वर्षायोगं सुखं तत्र व्यतीत्यापि ततोऽचलत् ।
वडोदरां प्रति स्वामी कुर्वन्मार्गे प्रभावनाम् ॥११०॥

अर्थ—आचार्य महाराजने वहांपर वर्षायोग धारण किया और सुखपूर्वक वर्षायोगको समाप्त कर वे वहांसे चले तथा मार्गमें धर्मकी प्रभावना करते हुए वे आचार्य महाराज वडोदा नगरमें पहुंचे ।

सपत्नीभिः समं भक्त्या कालेसावमहोदयैः ।
वडोदानृपराज्येऽपि सर्वत्र स्वागतं कृतम् ॥१११॥

अर्थ—वागोडिया महल वड़ी वारदाई साहब धर्मनिष्ठ धर्मपरायण श्री एफ. एस. काळे साहब तथा उनकी धर्मपत्नी विदूषी सुशीला बहिनने वडोदा राज्यमें भी भक्तिपूर्वक आचार्य महाराजका स्वागत किया । तथा—

बडोदावासिभिः श्राद्धैः सद्राज्यपुरुषैस्तथा ।
नानावाद्यैर्मनोज्ञैश्च ध्वजचामरतोरणैः ॥११२॥
जयध्वनिं प्रकुर्वाद्भिः स्वामिनः स्वागतं कृतम् ।
सूरिवर्योऽपि तत्रत्यान् संबोध्यैव ततोऽचलत्॥११३॥

अर्थ—जब महाराज बडोदा नगरमें पहुंचे थे तब वहांके रहनेवाले समस्त श्रावकोंने तथा वयोवृद्ध विद्वान् न्यायनीति परायण बडोदा स्टेटके नेक नामदार दीवानसाहब सर कृष्णमाचार्य सी० आई ई ने और अन्य समस्त राज-कर्मचारियोंने अनेक प्रकारके मनोहर बाजोंके साथ तथा अनेक प्रकारकी ध्वजा चमर तोरण आदि उपकरणोंके साथ जय-जयकार करते हुए आचार्य महाराजका श्रेष्ठ स्वागत किया। आचार्य महाराजने भी वहांपर कुछ दिन रहकर वहांके जीवोंको मोक्ष-मार्गका उपदेश दिया और फिर वहांसे आगे बिहार किया।

